विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष २
अंक २

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल—जून १९६४

प्रधान सम्पादक

स्वामी आत्मानन्द,

सह-सम्पादक

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नम्बर. १०४६

अनुक्रमणिका

“न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते”

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २] अप्रैल — १९६४ — जून [अंक २

वार्षिक चन्दा ४) -*- एक प्रति का १)

ज्ञानी या अज्ञानी ?

अन्धं तमः प्रविशन्ति
ये अविद्याम् उपासते ।
ततः भूयः इव ते तमः
ये उ विद्यायां रताः ॥

— जो अविद्या की उपासना करते हैं (अर्थात् जो अज्ञानी हैं), वे (अज्ञान रूप) घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, और जो (अनुभूतिविहीन कोरी) विद्या में रत हैं (अर्थात् जो शुष्क पंडिताई के फेर में पड़े हैं), वे मानो और भी गहरे अन्धकार में फँस जाते हैं ।

—ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र ९ ।

—०❀०—

विश्वास की शक्ति

किसी गाँव में एक पंडित जी रहा करते थे। कथा-प्रवचन उनकी आजीविका थी। उनके गाँव के पास से ही एक नदी बहती थी, जिसके उस पार के गाँव से एक ग्वालिन नित्य पंडित जी को दूध दे जाया करती थी। नदी पर नाव की कोई नियमित व्यवस्था नहीं थी, इसलिए ग्वालिन हर रोज़ ठीक समय पर दूध नहीं ला पाती थी। एक दिन पंडितजी ने ग्वालिन को देर से दूध लाने के कारण डाँट दिया। ग्वालिन दुखित हो बोली, "मैं क्या करूँ? मैं तो मुँह-अँधेरे ही घर से निकल पड़ती हूँ, पर नदी पर आकर माझी के लिए रुकना पड़ता है। माझी सवारी भरने के लिए रुका रहता है।" इस पर पंडित महाशय बोले, "अरी, भगवान का नाम लेकर लोग भवसागर को पार कर जाते हैं, और तू है कि एक छोटी सी नदी भी नहीं पार कर सकती!" नदी को पार करने का ऐसा सरल उपाय सुनकर ग्वालिन बड़ी ही प्रसन्न हुई। दूसरे दिन से पंडितजी को सुबह ठीक समय पर दूध मिलने लगा।

एक दिन पण्डितजी ने अचरज के साथ उस ग्वालिन से पूछा, "क्या बात है? आजकल तो ठीक समय पर दूध दे जाती हो? क्या कोई नाव खरीद ली है?" वह बोली, "खरीदने की क्या बात, महाराज? मैं गरीब औरत, भला कहाँ से नाव खरीदूँ? आपने जो नाव दी थी, वही तो है!"

"मैंने ?" पण्डितजी ने अत्यन्त आश्चर्य में आकर कहा, "मैंने तुम्हें कब नाव दी ?" ग्वालिन ने हँसकर कहा, "उस दिन आपने कहा था न कि भगवान् का नाम लेकर लोग भवसागर पार हो जाते हैं। बस, वही तो मेरी नाव है।" "क्या मतलब ?" पण्डितजी आश्चर्य से चीखकर पूछे, "हँसी न करो ! क्या तुम भगवान का नाम लेकर नदी को पार कर लेती हो ?— बिना किसी नौका के सहारे ?" वे ग्वालिन की बात पर विश्वास ही न कर पा रहे थे। अन्त में कहा, "क्या तुम मुझे दिखा सकती हो कि कैसे नदी को पार कर लेती हो ?" ग्वालिन पण्डित महाशय को साथ ले गयी और नदी के जल पर चलना शुरू कर दिया। कुछ दूर जाकर उसने पीछे लौटकर देखा— पण्डितजी आश्चर्य से बुत बने किनारे पर ही खड़े हैं। उनकी ऐसी बुरी दशा देखकर ग्वालिन बोली, "यह कैसी बात है, महाराज ! मुँह से तो आप भगवान् का नाम ले रहे हैं, पर साथ ही घबड़ाते हुए अपने हाथों से धोती भी ऊपर उठा रहे हैं जिससे वह गीली न हो जाय ? आपका विश्वास अधूरा दीखता है।"

तात्पर्य यह कि केवल कोरा ज्ञान अर्जन कर लेने से ही नहीं बनता। जब तक भगवान् पर उस ग्वालिन के समान सरल हृदय से विश्वास नहीं होता, तब तक वे नहीं मिलते। विश्वास की शक्ति असम्भव को भी सम्भव बना देती है।

—❀—

आधुनिक भारत को स्वामी विवेकानन्द का संदेश

श्री जवाहरलाल नेहरू

[भारतके प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलालनेहरू ने मार्च १९६३ में रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली में विवेकानन्द-शतवार्षिक-जयन्ती के उपलक्ष में जो अध्यक्षीय भाषण दिया था, प्रस्तुत लेख उसी के आधार पर है ।]

मुझे अध्यक्षीय भाषण देने के लिये कहा गया है । पता नहीं ऐसे अवसर पर क्या बोलूँ और कोई दूसरा भी क्या बोले । शायद सबसे अच्छा अध्यक्षीय भाषण तो यह होता कि स्वयं स्वामी विवेकानन्द की वाणी का आपके सम्मुख उच्चारण किया जाता; क्योंकि जो कुछ उन्होंने कहा या लिखा है वह जीवन के स्पन्दनों से भरा-भरा है । यदि कोई उनके शब्दों का अनुवाद करता है और आपके सामने उन्हें एक दूसरी भाषा में रखता है, तो उनकी वह प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है ।

हम जानते ही हैं कि स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व अद्वितीय था । प्राचीन काल से भारत ने कई महापुरुषों को जन्म दिया है; स्वामी विवेकानन्द उनमें से एक थे । ये महापुरुष-सभी युगों की ये महान् विभूतियाँ-- कोई हवामें रहकर महान् नहीं बनतीं । वे अपने युग में रहते हैं, युग में रहकर ऊँचे

उठते हैं और ऐसी बातें कहते हैं जो उनके युग के अनुकूल होती हैं। वे पुरानी परम्पराओं और पुराने विश्वासों का नया अर्थ लगाते हैं और उनके सहारे नये युग की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि उनके उपदेशों में असाधारण शक्ति होती है। यदि मैं आपसे प्राचीन बातों की चर्चा करूँ, तो हो सकता है कि आप उन्हें पसन्द करें, उनकी प्रशंसा करें और उनमें विश्वास भी कर लें, पर आज के सन्दर्भ में उनका महत्त्व बहुत थोड़ा है। यदि मैं आज की बातों की चर्चा करूँ, जैसा कि राजनैतिक लोग-वे, जो राजनीति के क्षेत्र में काम करते हैं-किया करते हैं, तो आप लोग उसमें रुचि ले सकते हैं, जैसा कि सभी लोग लेते हैं। पर इन बातों में बहुत थोड़ी गहराई होती है। वे आपको प्रभावित नहीं करतीं। वे भले ही मजेदार हों पर कुछ समय बाद आप वह सब भूल जा सकते हैं। किन्तु स्वामी विवेकानन्द में हम प्राचीन और अर्वाचीन दोनों का मेल देखते हैं। स्वामी जी जानते थे कि जीवन के प्रति हमारा प्राचीन दृष्टिकोण क्या था और हमने क्या क्या उपलब्धियाँ की थीं, और उसी को उन्होंने आज के लोगों के सामने उनकी अपनी भाषा में समझाया। वे भारत की विद्या और पाण्डित्य से अत्यन्त प्रभावित थे, पर उन्होंने अपने आपको केवल भारत के दायरे में बाँधकर नहीं रखा। यही कारण है कि उनकी वाणी अन्य देशों में भी ध्यान पूर्वक सुनी गयी और वहाँ के लोग उनकी बातों से प्रभावित हुए।

मैं देखता हूँ कि यहाँ बड़ी संख्या में बच्चे एकत्र हुए हैं।

कोई मुझसे पूछ सकता है कि मैं इन बच्चों से क्या कहना चाहूँगा। ऐसी बहुतसी बातें हैं जो उन्हें सीखनी हैं। उन बातों को सीखने के लिए वे किसकी ओर देखें ? यह बिल्कुल सम्भव है कि मैं उनके सामने भारत के इतिहास में से उतना योग्य, उतना काबिल और किसी दूसरे का नाम न रख सकूँ, जितना कि स्वामी विवेकानन्द का। हम उनकी ओर देखें, उनकी बातें पढ़ें, उनसे बहुतसी चीजें सीखें; पर सर्वोपरि, उनसे वह बात सीखें जिसके लिए वे विशेष रूप से प्रसिद्ध थे और जो बल के रूप से, साहस के रूप से, दुर्दमनीय शक्ति के रूप से प्रकट हुई थी। उनके प्रत्येक शब्द से यह शक्ति छलकती है और उन्होंने इस शक्ति का उपयोग इतनी तीव्रता से किया कि वे कम उम्र में ही परलोक सिधार गये। वे अपने जीवन के चालीस वर्ष भी पूरे न कर पाये, पर उसके पहले ही उन्होंने सारे भारत को तथा अन्य देशों के लोगों को हिला दिया था और उनके मन पर अपनी छाप लगा दी थी।

स्वामीजी ने देखा कि भारत अधःपतित होकर एक कमजोर राष्ट्र बन गया है। भारतीय लोग बुद्धिमान होते हैं, मेधावी होते हैं; वे डाक्टर बनते हैं, इंजीनियर बनते हैं। यह सब अच्छा है। पर वे कमजोर हैं। लोगों को जिस बात की पहली जरूरत है वह है ताकत, शक्ति। यदि उनमें ताकत नहीं है, तो उनकी सारी बुद्धिमत्ता, सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। इसलिए स्वामीजी ने जो सबक पढ़ाया वह यह था कि लोगों में, हर एक व्यक्ति में

भारत के हर कोने में यह शक्ति भर दी जानी चाहिए। अपने अल्प जीवनकाल में वे सारा भारत घूम गये और प्रचार किया; और जो कुछ उन्होंने बताया उसका जबरदस्त असर पड़ा।

उनके बाद महात्मा गाँधी आये। उन्होंने हमें बहुत सी बातें सिखायीं और उनकी सबसे बड़ी सीख यह थी कि हम निडर बनें—यह वही सबक था जो स्वामी विवेकानन्द ने सिखाया था। डरो मत; निर्भीक बनो; क्योंकि निडर व्यक्ति के लिए बाकी चीजें काफी आसान हैं। यदि हम डरते हैं, यदि हम भयभीत होते हैं तो हमारी बुद्धि तथा अन्य गुण कमजोर होने लगते हैं। जो व्यक्ति निडर है, वह जो कुछ करता है;उसे छिपाता नहीं। उदाहरण के लिए, आज हम कुछ बातों की चर्चा करते हिचकते हैं, कुछ बहुत छोटी चीजों को छिपा जाते हैं, इसका मतलब यह है कि हम अपने आप से डरते हैं, हम दूसरों से डरते हैं। अतएव स्वामीजी ने जो हमें बताया वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमें निर्भय होना चाहिए, व्यक्ति और राष्ट्र के रूप में हमें बलवान होना चाहिए। मैं आपसे, और विशेष करके अपने जवान दोस्तों से यही कहूँगा कि आपको स्वामीजी के विचारों से परिचित होने का मौका निकालना चाहिए। हम इतने भाग्य शाली नहीं थे कि उनकी प्रत्यक्ष वाणी सुन सकें, पर कम से कम हम वह तो पढ़ सकते हैं जो कुछ उन्होंने सिखाया और लिखा है, और उससे सबक ले सकते हैं। आप देखेंगे कि उनके शब्दों तक में शक्ति भरी-भरी है। जो भी उन्हें पढ़ता

है, उनका असर महसूस करता है।

आज हमारा देश एक कठिन परिस्थिति का सामना कर रहा है। उसके सामने बड़ी-बड़ी समस्याए हैं। हमें उन सबको हल करना है। यह एकदम से नहीं हो सकता। ऐसी कोई जादुई चाबी नहीं है जिसे बस घुमा दो कि सारी कठिनाइयाँ हवा हो जायें। हमारे लिए और हमारे देश के लिए यह एक कठिन परीक्षा का समय है। हम धीरे धीरे इस परीक्षा से गुजरेंगे। इन परिस्थितियों में यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हम निडर होकर इन समस्याओं का सामना करें। यदि हम ऐसा करते हैं तो जो समस्याएँ हमें डरा रही हैं वे दूर हो जायेंगी। इस अवसर पर, मैं कहूँगा कि हमें स्वामीजी से अपने हृदय में प्रकाश ग्रहण करना चाहिए। इससे हमारे लिए रास्ता खोजना आसान हो जाएगा, क्योंकि, जैसा आप जानते हैं, स्वामीजी में पुरातन और नूतन दोनों का मेल था।

भारत के सामने जो सबसे बड़ी समस्या है वह है—पुराने और नये के बीच एक समझौता करना। सैकड़ों वर्षों से हमारी जड़ें इस धरती में रही आयी हैं। मैं किस प्रकार अपनी बात समझाऊँ ? आप और मैं, हममें से सभी इस धरती में जन्मे हैं; मेरा मतलब है भारत की इस धरती में। उसका हजार वर्षों का इतिहास है। हमारे साथ भारत के सदियों पहले के विचार हैं, परम्पराएँ हैं। हम वह सब छोड़ नहीं सकते। और छोड़ें भी क्यों ? वह बहुत कीमती है। उसे कैसे छोड़ सकते हैं ? हम उससे सीखते हैं। जो

व्यक्ति हरदम प्राचीन की ओर देखता है उससे हम कई अच्छी बातें सीख सकते हैं। पर यदि वह आज की दुनियाँ की ओर नहीं देखता, तो निश्चय ही वह आज के युग में नहीं रह रहा है। हम तो आज की दुनियाँ में रहते हैं। यदि हम पूरी तरह से पुरानी दुनिया में रहने की इच्छा भी करें, तो वैसा नहीं कर सकते। वह एक अलग दुनिया है। दूसरी ओर, यदि हम केवल आज के ही युग में पूरी तरह रहना चाहें, अपनी उन जड़ों से अलग हो जायें जिनसे हम पनपे हैं, उनसे कोई सबक न सीखें, उनको किसी भी तरह समझने की कोशिश न करें, तो हम एक प्रकार से उथला बनने लगते हैं।

जड़ों के बिना कोई भी नहीं रहता। ऐसा कोई पेड़ नहीं, जिसके जड़ें न हों। पर यदि हम केवल जड़ें ही जड़ें हों, तो उससे काम नहीं बनता; और यदि जड़ को छोड़कर पेड़ का केवल ऊपरी भाग हो, तो भी काम नहीं बनता। दोनों के दोनों अनिवार्य हैं। हमें दोनों में सम्बन्ध लगाना चाहिए, मेल बिठाना चाहिए। मैं समझता हूँ कि नयी दुनिया के लिए पुरानी दुनिया और पुराने विचार अनिवार्य हैं। हमें उनको समझना चाहिये और आगे बढ़ना चाहिए। मैं सोचता हूँ कि भारत के सामने हल करने के लिए यह एक बड़ी समस्या है। जैसा हम देखते हैं, राजनीति के क्षेत्र में या अन्यत्र एक न एक नयी बात उठती ही रहती है। नये प्रश्न खड़े होते रहते हैं और हम उनका उत्तर खोजते हैं। पर मैं समझता हूँ कि मुख्य समस्या यही है।

यदि हम अपने आपको दुनिया से अलग कर लेना चाहें, तो ऐसा कर सकते हैं। मैं क्यों कहूँ कि हम ऐसा नहीं कर सकते? पर मैं आपको अपने मन की बात बताऊँगा, आपके सामने अपना विचार रखूँगा। मुझे ऐसा लगता है कि संसार के सामने जो समस्या है, उसका सामना हमें करना है; और जहाँ तक सम्भव है, अपनी सामर्थ्य के अनुसार हमें दूसरों की, अपने देश और देशवासियों की, या कहिए, दुनिया की सेवा करनी है। पर एक बात कहूँ, यदि हम प्राचीन भारत में समायी अपनी जड़ों को जान लेते हैं और उसका लाभ उठाते हैं, तो हम वर्तमान को और भी अधिक अच्छे रूप से समझ सकते हैं और उसमें काम कर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द में ये दोनों बातें थीं। हमारे महापुरुषों द्वारा बनाये गये प्राचीन भारतीय आदर्शों और विद्या को भी वे जानते थे और साथ ही उन्हें आज की दुनिया का भी ज्ञान था। यही कारण है कि उनकी वाणी में इतनी शक्ति है। भारतीयों को भी उसके अनुरूप शक्तिशाली होना चाहिए। यह एक ऊँचा विचार है कि भारतीयों को बली होना चाहिए, ताकतवर होना चाहिए। बिना ताकत के मनुष्य कोई काम का नहीं। मेरा मतलब पहलवान के समान शरीर की ताकत से नहीं है, यद्यपि वह भी अच्छी है—सभी प्रकार की ताकत अच्छी है,—पर वह दिल की मजबूती है, मन का जोर है, अन्याय के सामने न झुकने की ताकत है जिसे हमको पाना है। तब हमें आगे बढ़ने से दुनिया की कोई ताकत रोक न सकेगी।

आज हमारे देश के सामने कई समस्याएँ हैं, कई

कमजोरियाँ हैं, कई अवांछनीय बातें हैं। हम इनको कैसे जीतेंगे ? केवल बाहर से हमला करने वाले शत्रु का सामना करने से न बनेगा। हम कहते हैं कि चीनियों ने हम पर आक्रमण किया है। ठीक है। हमें उस हमले का सामना करना है और हम करेंगे। पर इससे भी कठिन है अपनी कमजोरी के सामना करने का निश्चय करना। सैनिकों में जो दिल के कमजोर होते हैं, वे अपनी यह कमजोरी छिपाने के लिए जोर-शोर से बातें करते हैं। पर चिल्लाने से कमजोरी नहीं छिपती। इसलिए हमें अपने आपको पहले मजबूत बनाना है। हमें ठीक रास्ते से जाना है और अपने मन को निर्मल बनाना है। और यह सब करने के लिए, जैसा मैं आपको बता चुका हूँ, जो एक मात्र उदाहरण आपके सामने रख सकता हूँ, जिससे बच्चे भी सीख सकते हैं, वह है स्वामी विवेकानन्द का। उनमें हम ये सारे गुण पाते हैं। अपने अल्प जीवन में उन्होंने कैसे भारत को हिला दिया ! और यह केवल थोड़े दिनों के लिए नहीं, बल्कि एक प्रकार से वह हलचल उनके बाद आज भी कायम है। मैं यहाँ आपको कुछ बताने नहीं आया हूँ। मैं तो स्वामीजी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने आया हूँ और यह आशा व्यक्त करने आया हूँ कि आज और आनेवाले कल के हमारे देशवासी, विशेष करके हमारे बच्चे और नौजवान, अपने सामने स्वामी विवेकानन्द का उदाहरण रखेंगे, उनकी याद बनाये रहेंगे और उनके जीवन एवं ग्रन्थों से सबक लेंगे।

—'प्रबुद्ध भारत' से साभार।

ध्यान में बैठने से पहले

[गतांक से आगे]

श्रीमत् स्वामी अशोकानन्द जी महाराज, अमेरिका

चार

(४) जब हम अपने मन में छिपे हुए वासना, आवेश, लोलुपता और कामना रूपी सूक्ष्म शत्रुओं का बल नापते हैं, तो जिन उपायों की मैंने ऊपर चर्चा की है वे उनके मुकाबले बहुत कमजोर-से दिखते हैं। मैं इसे स्वीकार करता हूँ। जब मैं शत्रुओं को 'छिपे हुए' कहता हूँ, तो इसका तात्पर्य यह है कि हममें से सर्वश्रेष्ठ जन भी उनके प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। ऐसा कहते हैं कि मनुष्य जब तक भगवान् के चरणों को प्रत्यक्षत: छू नहीं लेता, तब तक वह उनके चंगुल से पूरी तरह छूट नहीं सकता। जैसे जाड़ों में बाग-बगीचों की घास-पात और सूखे तृण साफ कर दिये जाते हैं पर वसन्त की पहली वर्षा से ही धरती में पड़े हुए सूक्ष्माकार बीज अंकुरित होकर हरियाली छा देते हैं, उसी प्रकार हमारे मन में बहुत से सूक्ष्म विचार, संस्कार और कामनाएँ छिपे रहते हैं और उठने के लिए प्रथम अवसर की ताक में रहते हैं।

अतएव हमें बड़ा सावधान रहना चाहिए। हम जानते

हैं, ये बुरे संस्कार हमारे मन में विद्यमान हैं और यदि हमने इनको नहीं रोका तो ये हमारी सारी चेतना पर सुगमता से छा जायेंगे। हमारी समस्या यह है कि अपने मन के एक बड़े भाग को—और धीरे-धीरे उससे भी बड़े भाग को तथा उससे और भी बड़े भाग को — हम किस प्रकार बुरे आवेगों और कामनाओं के अधिपत्य से मुक्त रख सकते हैं, जिससे कि हम ऐसे मुक्त मन से ईश्वर का चिन्तन तो कर सकें। जब तक यह नहीं सधता, तब तक हमें अपनी वासनाओं और प्रतिकूल आवेगों को जीतने के लिए क्या करना चाहिए? कभी कभी वे सीधे आक्रमण से परास्त हो जाते हैं, पर साधारणतया एक बाजू से आक्रमण करना बेहतर होता है। मन की किसी स्थिति को जीतने के लिए उस पर सीधा हमला बोल देना लाभ के बदले अधिक हानि कर सकता है, क्योंकि उससे मन बहुधा और भी अधिक फँसता जाता है। उत्तम तो यह है कि जिस मनःस्थिति को दूर करना है, उसका चिन्तन ही न किया जाय। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का ध्यान रखो—जितना ही तुम मन की किसी अवस्था का चिन्तन करोगे, वह उतनी ही अधिक दृढ़ होती जायगी।

एक कहानी है, कोई संन्यासी था जो सड़क के किनारे किसी पेड़ के नीचे बैठकर प्रार्थना और ध्यान किया करता था। कोई बदनाम स्त्री उधर से बहुधा निकलती तो यह संन्यासी उससे कहा करता था, "तुम्हें अपनी बुरी आदतें छोड़ देनी चाहिए और अब अच्छी बनने का प्रयत्न करना

चाहिए। यदि मेरी बात पर ध्यान न दोगी, तो मृत्यु के बाद तुम्हें भयानक बातों का सामना करना होगा।" जब भी संन्यासी उस स्त्री को देखता, तभी इस प्रकार चेतावनी दिया करता। कालान्तर में दोनों की मृत्यु हुई और दूत उनकी आत्मा को लेने आये। ऐसा कहते हैं कि भली आत्मा को लेने के लिए देवदूत आते हैं और उसे स्वर्ण रथ पर बिठाकर स्वर्ग ले जाते हैं तथा दुष्ट आत्मा के लिए यम अपने दूत भेजता है। हुआ यह कि सन्यासी के लिए यमदूत आया और उस स्त्री के लिए देवदूत।

संन्यासी चकित हो गया। वह बोल उठा, "कहीं गलती हुई दीखती है।" "नहीं", यमदूत बोला, "कहीं गलती नहीं हुई। सब कुछ ठीक है।" "ऐसा कैसे हो सकता है," सन्यासी ने पूछा। यमदूत गम्भीरतापूर्वक बोला, "भले ही ऊपर से ऐसा लगता था कि तुम ध्यान कर रहे हो, पर असल में तुम सारे समय उस स्त्री और उसके चरित्र का ही चिन्तन किया करते थे। क्या तुम्हारा मन अनवरत दोष में ही न लगा रहा? पर वह स्त्री तो ईश्वर से प्रार्थना करती, सहायता माँगती, कहती,'प्रभु, मैं कमजोर हूँ। मुझे बचाओ।' क्या उसका मन तुम्हारे मन की अपेक्षा ईश्वर में अधिक न लगा रहा?" संन्यासी इसका कोई उत्तर न दे सका।

यह एक चरम उदाहरण हो सकता है, पर इसमें एक गम्भीर आध्यात्मिक सत्य भरा है। यह मानसिक क्रिया सम्बन्धी एक मूलभूत सत्य की ओर संकेत करता है और इस सत्य को तुम आत्म-विजय के अपने संघर्ष में उपयोग में

ला सकते हो। जब मन को किसी अवांछित तत्त्व पर लगने दिया जाता है, तो वह निश्चय पूर्वक एक ऐसा नया संस्कार उत्पन्न करता है जो मूल की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल होता है। उस तत्त्व के बारे में और अधिक सोचने से वह मनमें अधिकाधिक दृढ़ीभूत होता जाता है और वह एक मानसिक ग्रन्थि का रूप भी ले सकता है। इससे मेरा मतलब यह नहीं है कि तुम्हें अपने मन को नहीं रोकना चाहिए अथवा उसे बेलगाम छोड़ देना चाहिए, या जैसा कि कहते हैं उसे 'स्वाभाविक' रहने देना चाहिए। न ही मेरा मतलब यह है कि तुम अपनी कमजोरियों की उपेक्षा कर दो। पर मेरा असल तात्पर्य यह है कि मन से सीधा झगड़ा मोल लेना खतरे से खाली नहीं है। बेहतर मोर्चेबन्दी तो यह है कि हम मन को एक नयी भूमिका में रहना सिखाएँ। पहले हम उसे अपनी दुर्बलता की भावना से अलग कर किसी निर्दोष और आनन्दप्रद विषय पर लगायें, और बाद में धीरे-धीरे उसे उच्चतर भावना में अवस्थित करें। आत्म-संयम की यह प्रणाली मन को कुचलती नहीं बल्कि अवांछित भावनाओं के बदले वांछित भावनाओं में लगाकर उसे बुरे सम्पर्कों से ऊँचे उठाती है।

यदि आज तुम अपने में कोई एक ऐसा महत् दोष पाते हो जिसे दूर करना लगभग असम्भव-सा लगता हो, तो तुम्हीं ने उसपर बारम्बार सोचकर और उसमें मन को लगा-कर उसे इतना प्रबल बनाया होगा। उस पर न सोचो, उसे आश्रय न दो, देखोगे कि वह दोष निस्तेज हो जायगा और

पोषण के अभाव में धीरे धीरे मिट जायगा। मैं यह नहीं कहता कि यह विधि सरल है, पर अभ्यास कर-करके तुम इस प्रकार अपनी आदत बना ले सकते हो, और यह आध्यात्मिक प्रगति का अचूक उपाय है। कुछ समय तक अपनी अवांछित भावनाओं को अनाहार रख देने से तुम देखोगे कि भले ही उनमें से कई मिट चुकी हैं तथापि कुछ तो बनी हुई हैं ही। उसकी चिन्ता न करो, उन्हें रहने दो पर यही देखो कि उन्हें आहार न मिलने पाये। उन्हें घेरे में डाले रखो। देखोगे, वे भी अन्त में मिट जायेंगी।

(५) मन के संघर्ष और विक्षोभ का एक प्रमुख कारण है—कुसंग। वैसे तो सभी प्रकार के लोगों से मिलना-जुलना बहुत अच्छा है, यदि हम उनके संग से निर्लिप्त रह सकें; पर ऐसा क्वचित् ही होता है। मैं ऐसे किसी व्यक्ति को नहीं जानता जो इस प्रकार निर्लिप्त रह सकता हो। अतः आध्यात्मिक जीवन में अच्छे संग और भले सम्पर्कों की महत्ता बहुत अधिक है। यदि तुम अपवित्र लोगों का साथ करो और बुरी बातों के सम्पर्क में आते रहो, तो तुम जिन विचारों से बचना चाहते हो उन्हें न रोक सकोगे; उलटे वे प्रबल होते जायेंगे और अन्त में तुम्हारे मन को पूरी तरह दबा लेंगे।

(६) आध्यात्मिक उन्नति के लिए कुछ शारीरिक कठोरता नितान्त आवश्यक है। तुममें से जो ध्यान के लिए उतने उत्सुक नहीं हैं, ऐसा कह सकते हैं, "उसे हम अगले जन्म के लिए छोड़ देते हैं", या "उस ओर हम कुछ साल

बाद जायेंगे।" कई लोग सोचते हैं कि यौवन तो जीवन के उपभोग के लिए है, जब हम बूढ़े हो चलेंगे तब धर्म का अभ्यास शुरू करेंगे। दूसरे शब्दों में, जब संसार खट्टा हो चलेगा तब वे उतरी हुई सूरत लेकर मन्दिर या गिर्जे जायेंगे और सोचेंगे कि उन्हें धर्म प्राप्त हो गया! वह धर्म नहीं है और हो भी नहीं सकता। उस समय हम भगवान् के पास क्या ले जाते हैं?—एक जीर्ण शरीर और शीर्ण मन, जो सब जगह दागों से भरे हों। क्या सोचते हो कि भगवान् इससे प्रसन्न होंगे? हम उनकी वेदी पर कीड़े-पड़े फलों या कुम्हलाये फूलों को नहीं चढ़ाते, वहाँ तो निर्दोष और उत्कृष्ट वस्तुओं का समर्पण करते हैं। उसी प्रकार, हमें चाहिए कि हम अपना जो कुछ सबसे श्रेष्ठ है, उसे उनके चरणों में निवेदित करें। तेजस्वी और शुद्ध मन का नैवेद्य भगवान् को सबसे अधिक पसन्द है। जो धर्म को केवल बूढ़ों के लिए मानते हैं वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। युवकों को विशेष रूप से आध्यात्मिक बनने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि यदि धार्मिक जीवन का प्रारम्भ पहले से कर दिया जाय एवं जिन साधनों का उल्लेख मैंने किया है उनका अभ्यास मन के तेजवान और निर्मल रहते शुरू कर दिया जाय, तो मन की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखते हुए साधक उसे दूषित होने से बचा सकता है। हमें किसी भी दशा में मन को सांसारिक भावनाओं के द्वारा प्रभावित नहीं होने देना चाहिए। यौवन इस दिशा में कार्य प्रारम्भ करने का सबसे उत्तम समय है।

श्रीरामकृष्ण ने एक समय कालेज के एक युवा छात्र से कहा था, "जब कुम्हार ईंट बनाता है तो उसके कच्चे रहते ही उस पर अपना ट्रेड मार्क अंकित कर देता है। उसके बाद जब ईंट को धूप में सुखाकर भट्ठी में पका लिया जाता है, तो वह मार्क अमिट हो जाता है। उसी प्रकार यदि मन के कच्चे रहते उस पर भगवान् की छाप लगा लो, तो वह छाप कभी न मिटेगी— सदैव के लिए बनी रहेगी।"

शारीरिक तप का अभ्यास करो। जितना अधिक कर सको, उतना ही अच्छा है। इसका मतलब यह नहीं कि तुम हरदम मुँह बनाये रहो मानो नीम चबा गये हो। शारीरिक तप के अभ्यास में तुम्हें तेज घोड़े की सवारी-सा आनन्द आना चाहिए। शरीर और मन की शक्तियों का संयम करने के लिए बल प्राप्त करो, जिससे वे तुम्हें दबा न सकें। यह शारीरिक तप नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना ध्यान का जमना असम्भव है।

पाँच

(७) अब तक मैंने जिन बातों की चर्चा की है वे महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक बातें हैं। जीवन में प्रतिदिन उनका अभ्यास नितान्त आवश्यक है। केवल आध्यात्मिक साधना के प्रथम दिनों में ही उनका अभ्यास करके बस नहीं कर देना चाहिए। जो उनका नियमित रूप से यथारीति अभ्यास करता है, वह अपने मन को पूरी तरह किसी भी वस्तु से

हटा ले सकता है, क्योंकि वह मन पर जबरदस्त कब्जा जमा लेता है। पर जब तक तुम इन अभ्यासों में पूरी तरह प्रतिष्ठित नहीं होगये हो तब तक ध्यान के समय मन तुम्हें परेशान करेगा ही—उसे कुछ शान्त होने में समय लग जायगा। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है। यदि ध्यान के ठीक पहले तुम इधर-उधर दौड़-धूप करते रहो और बहुत सी बातें सोचते रहो तो सफलता की आशा कैसे रख सकते हो ?

असल में, ध्यान में बैठने से कुछ पहले तुम्हें अपने आपको शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा अनुभव करने की कोशिश करो कि तुम्हारा संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है,तुम्हें न उससे कुछ लेना है न देना। भले ही पति,पत्नी,माता,पिता, पुत्र या कन्या के रूप से तुम्हारे अनेकानेक कर्तव्य हैं और तुम्हें सैकड़ों बातों की ओर ध्यान देना है; पर जब तुम भगवान् की ओर जाओ, तो ऐसा सोचो कि तुम्हारे लिए यह जगत् त्रिकाल में नहीं था, तुम्हारे पति, पत्नी, पिता, माता, मित्र, देश कुछ थे ही नहीं। ध्यान की वेला में इसी प्रकार का चिन्तन अपेक्षित है।

शाश्वत का विचार मनमें उठाते हुए ध्यान की ओर अग्रसर होओ। ध्यान में सर्वाधिक सफल कौन होता है ? वह, जो ध्यान के समय अपना एकदम निरपेक्ष रूप से चिन्तन कर सकता है। इसका तात्पर्य समझे ? शाश्वत को कल्पना में लाने का प्रयत्न करो। वह कालातीत है और फलस्वरूप समस्त घटनाओं के परे है। वह एक अवस्था है—

यदि उसे अवस्था कह सकें तो— ऐसी अवस्था, जिसमें इस सापेक्ष जगत् की कोई वस्तु नहीं है। जब तुम उस शाश्वत प्रभु का चिन्तन करते हो, तो उस समय तक के लिए समस्त सम्बन्धों से ऊपर उठ जाने का प्रयास करते हो। तुम्हें दृढ़तापूर्वक कहना चाहिए, "मेरे शरीर नहीं है, मन नहीं है। देश और काल मिट चुके हैं। सारा ब्रह्माण्ड लुप्त हो चुका है। एक मात्र वह ईश्वर ही है।" तभी मनको वह सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त होगी, जिससे वह ईश्वर के करुणामय अस्तित्व को अनुभव करने में समर्थ हो सकेगा। इस प्रकार, ध्यान करने के स्थान में प्रवेश करने के पहले, तुम्हें समस्त सांसारिक बातों को बाहर ही झटकार देना चाहिए।

भारत के मठों में ऐसे कई संन्यासी हैं, जो आध्यात्मिक नियमों का कड़ाई से पालन करते हैं। वे अपने पास आने वाले दर्शकों को अपनी पत्नी, अपने पति या बच्चों अथवा अन्य सांसारिक बातों की चर्चा के लिए मनाही कर देते हैं, भले ही वे बातें महत्त्वपूर्ण क्यों न हों। यह बात नहीं कि अपने कर्तव्यों का पालन करनेवाले व्यक्ति को वे निरुत्साहित कर देते हों, पर बात यह है कि वे जानते हैं यदि मन को आध्यात्मिक होना है तो उसे शाश्वत के रंग में रँग जाना होगा। दिन में कोई समय ऐसा रहता ही है जब तुम अपने-आपको एकदम निरपेक्ष अनुभव करते होगे, क्योंकि वैसा रहना ही तुम्हारा यथार्थ स्वभाव है। यद्यपि तुम अन्य लोगों से सम्बन्धित प्रतीत होते हो, तथापि तुम जानते हो कि ये सम्बन्ध अस्थायी है। तुम्हारा असल स्वभाव निरपेक्ष है,

और ध्यान करते समय तुम्हें इसी निरपेक्ष अवस्था में प्रवेश करना है।

(८) मैंने ऊपर जिन उपायों का उल्लेख किया है, यदि उनका पालन किया जाय तो सचमुच कुछ अनुभवनीय आध्यात्मिक उन्नति की जा सकती है। पर यहाँ पर मैं तुम्हें यह बता दूँ कि सारी आध्यात्मिक साधनाएँ, जिनमें ध्यान भी सम्मिलित है, एक बात पर निर्भर करती हैं; वह है—सत्य-प्राप्ति के लिए उत्कट आग्रह। क्या तुममें ऐसा आग्रह है? तुम कह सकते हो, "मुझे तो ऐसा आग्रह नहीं लगता। तब भला ध्यान करने से क्या लाभ?" तो इस पर कहता हूँ कि क्या ऐसा आग्रह मनमें उठाना असम्भव कार्य है? हम प्रयत्न करके भगवन् के लिए मनकी भूख को तेज कर सकते। एक बार यदि मनमें किसी भी प्रकार से भगवान् के लिए भूख लायी जा सके, तो उसका अनुभव अपने ही आप उठने-वाली भूख की तुलना में कोई कम सत्य न होगा। यदि तुम स्वाभाविक रूप से इस आग्रह के जगने की राह देखते बैठे रहो, तो हो सकता है कि वह कभी जगे ही नहीं। और चूँकि यह आग्रह, यह आकुलता अनिवार्य है, इसलिये उसको जगाओ। पहले पहल तुम्हारा मन डावाँडोल होगा। पर हताश न होना—मन की इन अस्थिर भावनाओं से विच-लित न होना, और सर्वोपरि, मन से हार न मान बैठना।

मान लो तुम एक लड़के हो और तुम्हारा एक पड़ोसी लड़का तुम्हें हरदम दबाने की कोशिश करता है। उसे ऐसा

करने का कोई अधिकार नहीं है, और तुम जानते हो कि वह वास्तव में डरपोक है। ऐसी दशा में क्या करना उचित है? क्या तुम यह सोचकर कि 'मैं तो कमजोर हूँ और उससे लड़ाई मोल लेना भी व्यर्थ है' उसकी घुड़की से दब जाओगे? नहीं, बल्कि तुम प्रयत्न करके अपने पौरुष को जगाओगे। तुम अपने आप से कहोगे, "मैं उसकी घुड़की से दबनेवाला नहीं हूँ।" जब इसके बाद उससे सामना होगा, तो तुम्हारी यह भावना भले ही कुछ कमजोर पड़े, पर तुम उसकी आँख से आँख मिलाने का साहस कर लोगे और अन्त में तो उसे चुनौती भी दे सकोगे। तुम्हारा पौरुष जाग उठेगा और तुम कहोगे, "यही मेरा यथार्थ स्वभाव है; मैं सचमुच में बलवान् हूँ!"

हम प्रतिक्षण इसी प्रकार कार्य करते हैं। कोई कौशल हस्तगत करने में अथवा विद्यालय में ज्ञान-लाभ करने में हमें इसी प्रकार बारम्बार प्रयत्न करना पड़ता है। पहले तो ऐसा लगता है कि जिसे हम पाने की कोशिश कर रहे हैं वह हमारे स्वभाव के अनुकूल नहीं है, पर एक बार वह मिल गया तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह हमारा एक अनिवार्य अंग है। आध्यात्मिक जीवन में यह बात और भी अधिक सत्य प्रतीत होती है। अतः उसी अनुपात में हमें प्रयत्न भी विशेष करना चाहिए। पहले पहल हर एक बात कठिन मालूम होती है और तुम कह उठते हो, "मेरा स्वभाव भी कैसा है? धार्मिक तो दिखता नहीं। लगता है कि मेरे कपाल में आध्यात्मिकता नहीं लिखी है।" एक समय था,

जब मैं भी ऐसा ही सोचता था। किसी बाधा को बहुत बड़ा मान लेता था और उसको दूर करना एक असम्भव कार्य समझता था। ऐसी स्थिति में मैं अपने आपको सचेत किया करता था कि मैं असल में शरीर और मन तो हूँ ही नहीं, मैं तो आत्मा हूँ, और अपने इसी आध्यात्मिक स्वरूप की अनुभूति ही मेरा लक्ष्य है। मैं जानता था कि यदि बाधा पर उसी समय विजय न पायी गयी, तो काम भविष्य के लिए टल रहा है; अतः तुरन्त प्रयत्न करके काम को खत्म ही क्यों न कर दिया जाय? मैं सत्यतापूर्वक कह सकता हूँ कि इस विचार को जकड़े रहना ही मेरा सौभाग्य रहा। यह सत्य है कि कभी-कभी इस प्रयत्न को त्याग देने का भी विचार मेरे मन में आता रहा, पर मैं उस समय यही निश्चय करता था, "अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को तो मुझे प्राप्त करना ही है, अतः क्यों न उसे अभी ही पा लूँ!"

ध्यान के अभ्यास में तीव्र आकुलता और श्रद्धा बहुत महत्त्वपूर्ण अंग हैं। भगवान् में यदि दृढ़ विश्वास न हो और उन्हें पाने के लिए तीव्र व्याकुलता न रहे, तो ध्यान में कोई उत्साह नहीं रह जाता, वह नीरस हो जाता है। जब अपने किसी कार्य में तुम्हारी रुचि नहीं रह जाती, तो वह केवल औपचारिक हो जाता और वह कार्य शीघ्र छूट भी जाता है।

यदि तुम सगुण ईश्वर में विश्वास करते हो तो उससे प्रार्थना करो। 'सगुण ईश्वर' से मेरा तात्पर्य 'देह धारी ईश्वर' से नहीं है, पर ऐसे ईश्वर से है जो हमारा पिता है,

माता है, मित्र और प्रभु है, जो इस जगत् का सर्वव्यापी स्रष्टा है, जो हमारी प्रार्थनाएँ सुनता है, जिसके पास हम उसी विश्वास से जा सकते हैं जिस सरल विश्वास से बच्चे अपने माता-पिता के पास जाते हैं। ऐसे सगुण ईश्वर में विश्वास करना और उसको प्यार करना ध्यान को तुम्हारे लिए बड़ा सरल बना देगा। मन को ईश्वर के चिन्तन में अधिकाधिक डुबाते रहो। सारे कार्य उसी के निमित्त करो! प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना और अपनी शक्ति के छोटे से छोटे हिस्से को ईश्वर में केन्द्रित करना ही आध्यात्मिक जीवन की सफलता का रहस्य है।

(६) यह किस प्रकार करोगे? जब बोलो तो ईश्वर के सम्बन्ध में बोलो। जब चलो, तो उसके मन्दिर में जाओ। जब अपने हाथों से काम करो तो उसी के सेवा निमित्त कुछ करो। शरीर और मन की हर क्रिया को, जैसा बने, ईश्वर की ओर मोड़ दो। यदि मन्दिर के बदले तुम्हें आफिस जाना पड़े, तो अपने आफिस को ही भगवान् का मन्दिर बना लो! यदि तुम्हारा काम ईमानदारी का है, तो वैसा बन सकता है। यदि तुम्हारा काम सचाई का नहीं है तो उसे बदल दो। यदि इस प्रकार काम को बदल देने से तुम्हें भूखों भी मरना पड़े, तो भी तैयार रहो! साहस-साहस! बस इसी की सदैव आवश्यकता है। यह न भूलना कि जिस भगवान् ने इस दुनियाँ को उपजाया है वह अब भी इसके पीछे है और वह कभी हमें भूखों न मरने देगा।

यदि हम सचमुच सत्यस्वरूप को पाना चाहते हैं और इसी लिये जो भी गलत और असत्य है उसको तज देना चाहते हैं, तो निश्चय जानो कि उस सत्य की ओर जाने से हम कुछ खोएँगे नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि सारी बातें हमारी इच्छानुसार होंगी, पर तात्पर्य यह है कि वे इस प्रकार होंगी जिससे हमें कष्ट सबसे कम और लाभ सबसे अधिक हो।

यदि तुम्हारा पेशा सचाई का है, तो निश्चय ही तुम उसे ईश्वर-निमित्त समझ सकते हो। चाहे तुम मेज पर बैठे हुए हो अथवा घर के काम में लगे हुए हो— चाहे किसी भी काम में क्यों न लगे हुए हो, ईश्वर का ध्यान करो। भले ही दिन भर जो कुछ तुमने किया, वह ऊपर से ऐसा दिखे कि तुमने अपने मालिक के लिए किया, पर सब कुछ ईश्वरार्पित कर दो। क्या तुमने बीस चिट्ठियाँ टाइप की हैं और मालिक के पास हस्ताक्षर के लिए उन चिट्ठियों को ले गये हो ? कोई हर्ज नहीं, मालिक को उन पर हस्ताक्षर कर लेने दो। बाद में अपनी आँखों को बन्द कर लो और सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर दो। इस प्रकार तुम अ ने विचारों को एक नया मोड़ दोगे। काम करने का यह तुम्हें एक अलग ही तरीका मालूम होगा। पहले पहल यह तुम्हें कुछ नया नया-सा लग सकता है, पर इसे छोड़ो मत; इससे लग जाओ। धीरे धीरे इसका गहरा अर्थ तुम्हें स्पष्ट होता जायगा और देखोगे कि तुमने प्रारम्भ में इस अभ्यास को जैसा समझा था वैसा वह नहीं है; वह तो अत्यन्त उपकारी और फलप्रद है।

इस प्रकार, जब भी हम दूसरों के लिए अथवा अपने निमित्त कुछ करते हैं, तो ऐसा सोच सकते हैं कि हम प्रभु के निमित्त यह सब कर रहे हैं। तब तो जीवन की हर बात को आध्यात्मिक क्रिया में रूपान्तरित किया जा सकता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो परिश्रमपूर्वक और समझ-बूझकर सब कुछ प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के निमित्त करने में समर्थ होते हैं। कितने भाग्यवान् हैं वे लोग! इसी प्रकार सौभाग्य शील बनने ही के लिए तो लोग लम्बी-चौड़ी पूजा-उपासना करते हैं, बागों में फूल उपजाकर वेदी पर चढ़ाते हैं और धूप-दीप जलाते हैं। हो सकता है तुम्हें यह सब बातें अच्छी न लगती हों, पर और किस प्रकार तुम दिन का समय बिताओगे? देखो न, इस क्षुद्र अहं की सेवा में किस प्रकार समय और शक्ति का अपव्यय हो रहा है? अतः क्या यह उत्तम न होगा कि जो कुछ तुम करते हो उसे ईश्वर को समर्पित कर दो? ;बस, इसी भावना से कर्मकाण्ड और क्रिया-अनुष्ठानों की उत्पत्ति हुई है; इसी से संसार भर में मन्दिर और गिरजे बने हैं जहाँ लोग पूजा के निमित्त चढ़ावा लेकर जाते हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि मैं सबको इस प्रकार के कर्मकाण्ड में लगने को बाध्य कर रहा हूँ। प्रत्येक को अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप उपासना करनी चाहिए। पर किसी न किसी प्रकार तुम्हें यह तो आविष्कार करना ही पड़ेगा कि अपने विचारों, अपनी भावनाओं और क्रियाओं को ईश्वर की सेवा में कैसे लगाया जाय। जितना ही अधिक

तुम ऐसा कर सकोगे, ईश्वर के उतने ही निकट आते जाओगे। उस समय जब तुम ध्यान में बैठोगे, देखोगे कि शेष सब कुछ विस्मृत हो गया है और हृदय में केवल ईश्वर का ही साम्राज्य छाया हुआ है।

(१०) सम्भवतः तुम तर्क और युक्ति द्वारा आध्यात्मिक सत्यों को धारणा करने के आदी हो। पर मैं कहूँगा कि जब तक तुमने इन सत्यों की स्वयं अनुभूति नहीं कर ली है, तब तक तुम्हारे लिए सबसे सौभाग्य का विषय तो यह होगा कि किसी ऐसे व्यक्ति के दर्शन हों जिसने स्वयं इन सत्यों की उपलब्धि कर ली है। तुम जानते हो कि आध्यात्मिक सत्य युक्ति, तर्क या किसी बाहरी प्रदर्शन के द्वारा सिद्ध नहीं किये जा सकते। बल्कि जिसने उन सत्यों का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, उसके शब्दों में ही वह शक्ति है जिससे वे सत्य प्रमाणित किये जा सकते हैं। भले ही दूसरे लोग मुझसे सहमत न हों, पर मेरे अनुसार यही एक ऐसा बाहरी प्रमाण है जिस पर विश्वास किया जा सकता है।

यदि इस प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति सम्पन्न कोई व्यक्ति मुझसे कहते हैं, "मेरे बेटे, तुम वास्तव में यह शरीर और मन नहीं हो, आत्मा ही तुम्हारा यथार्थ स्वभाव है; अमर और शाश्वत सत्ता ही तुममें का सत्य है, अस्थिर और क्षण-क्षण परिवर्तनशील बातें तुम्हारी अपना नहीं हैं; गहराइयों में पैठने की कोशिश करो; अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करो,"— तो उनकी यह वाणी मुझ पर

बलपूर्वक अधिकार कर लेगी और मैं तदनुसार कार्य करने को विवश हो जाऊँगा। ज्यों ज्यों वे कहते रहेंगे, त्यों त्यों उनकी वाणी में ऐसा कुछ है जो मेरे हृदय की गहराइयों में पैठता रहेगा, मैं उसका प्रतिरोध न कर सकूँगा।

प्रभु से मेरी यही प्रार्थना है कि तुम सबको ऐसे व्यक्ति प्राप्त हो जायँ, जिनके मुख से इसी भाँति अनुभूतिमयी वाणी निःसृत हो! तब तुम उनके शब्दों पर सन्देह न कर सकोगे, उनकी उपेक्षा न कर सकोगे। तब अपने सत्यस्वरूप और उदात्त लक्ष्य के प्रति निष्ठा तुममें परिपक्व होने लगेगी। हो सकता है, कभी कभी विफलता तुममें निराशा भर दे, पर अन्त में निराशा झकझोर कर तुम कह उठोगे, "ठीक है, एक बार फिर प्रयत्न कर देखूँ।" और सफलता तुम्हारे हाथ लगेगी।

छः

अब मैंने तुम्हें बता दिया है कि ध्यान में बैठने से पहले हमें क्या करना चाहिए। जिन विभिन्न उपायों की मैंने चर्चा की है, उनकी सहायता से तुम अपने मन को सतत ईश्वर के निकट ले जा सकते हो। अन्त में, कुछ बातों पर जोर दे दूँ:-जो भी काम तुम्हें करना है, करो, पर उसे ईश्वर की ओर मोड़ दो; इससे तुम्हारा मन विचलित न होगा। निर-पेक्ष बनो। अपने को शाश्वत के साथ एकरूप देखो; इससे ध्यान सुगम हो जायगा। मन को भटकने न दो, अन्यथा

सांसारिक भावनाएँ उसमें घुसकर छा जायेंगी— ऐसा कदापि न होने दो। ध्यान में बैठने से पहले उन सब बातों पर विचार करो, जिनकी मैंने चर्चा की है।

जब बाहर की कोई बात मन में न घुसेगी, तब वह धीरे धीरे शान्त हो जायगा। और तब, अपने हृदय-मन्दिर में तुम प्रभु के चिन्मय विग्रह का दर्शन करोगे। उस पर ध्यान करो। देखोगे, वह अधिकाधिक सौन्दर्य मण्डित होता जायगा और सौन्दर्य के उस अनन्त सागर में डूबकर तुम सब कुछ भूल जाओगे। अन्त में तुम ईश्वर में पूरी तरह निमग्न हो जाओगे।

--'वेदान्त फार ईस्ट एण्ड वेस्ट' से साभार।

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते॥

जो मित्रों से सत्कार पाकर और उनकी सहायता से कृतकार्य होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नों के मरने पर उनका मांस मांस-भोजी जन्तु भी नहीं खाते।

—महात्मा विदुर

पतितपावन श्रीरामकृष्णदेव
और
गिरीशचन्द्र घोष

(प्राध्यापक– नरेन्द्र देव वर्मा)

अनेक प्रकार की साधनाओं में सिद्धि अर्जित करने के पश्चात् भगवान् श्रीरामकृष्णदेव लोककल्याण की भूमिका पर स्थित हो जाते हैं। उनके सामने अब जगत् को शिक्षा प्रदान करने का लक्ष्य प्रमुख हो जाता है। धर्मप्राण भारत की जनता को भौतिकता के सागर से उबारने के लिए और धर्म की युगानुकूल संस्थापना के लिए श्री भगवान् कलि-काल में दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर के छोटे पुजारी के रूप में लीला करते हैं। तथा, उनकी देवदुर्लभ साधनों के सौरभ से आकर्षित होकर भक्तात्माओं का समूह दक्षिणेश्वर के प्रांगण में एकत्रित होने लगता है। जिसने भी उस देवमानव की लीला माधुरी का दर्शन-श्रवण किया उसीका जीवन धन्य हो गया। यहाँ हमें श्रीरामकृष्णदेव का दूसरा स्वरूप दिखाई देता है। वे युग-ईश्वर और विश्वगुरु के पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उनकी अन्तरात्मा के घट में भरा हुआ ईश्वरत्व देह के झीने आवरण को भेदकर प्रकाशित होने लगता है, तथा जो भी उस आलोक को देखते हैं वे समझते हैं कि

उनके आवागमन का चक्र समाप्त हो गया, उनके जन्म-जन्म के पाप कट गए, उनकी माया का दृढ़तर पाश टूट गया।

सिद्धि प्राप्त करना एक बात है किन्तु उस सिद्धि को लोककल्याण के लिए विनियोजित करना दूसरी बात है। केवल अवतार वर्ग ही वैयक्तिक मुक्ति और लोक कल्याण के मध्य संतुलन रख सकते हैं। इसीलिए अपनी आध्यात्मिक सम्पदा को वितरित करने के लिए श्रीरामकृष्णदेव कातर स्वर में पुकार उठते हैं, "अरे तुम सब कहाँ हो? यहाँ संसारी लोगों की विषय-चर्चा सुनते सुनते मेरे कान पक गए। अब और विलम्ब सहा नहीं जाता।" श्रीरामकृष्णदेव के आह्वान का स्वर शुद्ध-बुद्ध आत्माओं को उनके समीप खींच लाता है। उनमें घोर संसारी हैं और विरक्त भी, विषयों में लीन व्यक्ति हैं और संसार से उदासीन त्यागी भी। वे सबको समान रूप से ग्रहण करते हैं। वे समदर्शी थे। उनके समीप छोटे-बड़े का भेद नहीं था, निम्न-उच्च का विचार नहीं था। जिस प्रकार गंगा की धारा में मिलकर छोटी-बड़ी, मलिन-पवित्र, सभी नदियाँ सुरसरिता के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, उसीप्रकार उनकी प्रेम की पवित्र भागीरथी में अवगाहन करके संसारी और त्यागी, विषयी और विरागी आध्यात्मिक सम्पदा से युक्त हो शुद्ध और पवित्र बन जाते हैं। सूरदास कहते हैं कि प्रभु पारसमणि के समान हैं और उनके स्पर्श से सभी प्रकार का लोहा सोना बन जाता है। फिर चाहे वह लोहा बधिक के घर रखा हुआ गँड़ासा हो अथवा पूजा-गृह में रखा हुआ अर्घ्यदान हो, उसमें

कोई भेद नहीं होता। श्रीरामकृष्ण के स्वर्गिक स्नेह के पारस-स्पर्श से योग्य-अयोग्य से सभी कंचन के समान पावन बन जाते हैं। उन्होंने अपने मंगलमय संस्पर्श से यदि नरेन्द्रनाथ को वैराग्यमूर्ति स्वामी विवेकानन्द बना दिया था तो दूसरी ओर नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र घोष को भी पाप-पंक से मुक्त कर भक्तराज बना दिया था।

गिरीशचन्द्रघोष का भावपरिवर्तन विश्व-धर्म के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। श्रीभगवान् प्रत्येक युग में लोक धर्म की संस्थापना के लिए अवतीर्ण होते हैं और उनके संसर्ग में आने वाले कीट-पतिंगे भी मुक्त हो जाते हैं। अवतारों की लीलाओं के अनुशीलन में हमें एक बात सामान्य रूप से दिखाई देती है; वह यह कि वे पतितपावन हुआ करते हैं। ब्रह्मज्ञानी नारद के उपदेशों से रत्नाकर डाकू महाकवि बाल्मीकि बन जाता है, भगवान् तथागत की असीम करुणा से दस्यु अंगुलिमाल का हृदय-परिवर्तन हो जाता है, और महापातकी जगाई और मधाई श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से परम वैष्णव बन जाते हैं। भगवान् श्रीरामकृष्ण पतित-पावन थे, दीनवत्सल थे। वे आते हैं धर्म को एक नयी भित्ति प्रदान करने के लिए, और विषयों की व्याधियों से ग्रस्त, सांसारिकता के चक्रवात में त्रस्त और विषयों के दलदल में सिर से पैर तक डूबे हुए गिरीशचन्द्र घोष का उद्धार करने के लिए।

बंग नाट्य साहित्य के इतिहास में गिरीशचन्द्र घोष का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने तत्कालीन बंगीय रंगमंच को एक

नयी दिशा दी थी और अभिनव रूप-सज्जा प्रदान की थी। वे महान् नाटककार होने के साथ ही प्रथम श्रेणी के अभिनेता भी थे। उनमें कवि और साहित्यकार की जन्मजात प्रतिभा थी। जिस प्रकार वे अभिनेता के गुणों से युक्त थे उसीप्रकार कलाकार के सभी दोष उनमें सहज रूप से व्याप्त हो गए थे। किन्तु जब वे श्रीरामकृष्णदेव के ममत्व-सूत्र में बँध जाते हैं तब उनमें वह परिवर्तन उपस्थित होता है जिसे देखकर संसार आश्चर्यचकित हो जाता है। उनमें अनवरुद्ध प्राणवत्ता और अप्रतिहत कर्म शक्ति थी। उन्होंने अपने जीवन को जिस दिशा में भी मोड़ा है उसे पूरी तरह से जिया है। जब वे नास्तिक थे तब कोई भी उनके समक्ष ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में तर्क उपस्थित करने का साहस नहीं करता था। जब वे सुरापान करते तब कोई उनके हाथ को नहीं पकड़ सकता था। किन्तु वे अपूर्व संवेदनशीलता से युक्त भी थे। उनका हृदय नवनीत के समान कोमल था। हिमालय के समान अशासित दीखने वाले गिरीश के व्यक्तित्व के अंतराल में मन्दाकिनी की धारा के समान तरल मन भी था जिसका ज्ञान उन्हें स्वयं ही नहीं था। इसलिए, जब उनकी अन्तरात्मा भौतिक सुखों के प्रति मन के तीव्र अभिचार को देखकर विद्रोह कर उठता तब उन्हें सहस्रों वृश्चिक-दंश के समान पीड़ा होने लगती और वे गहन चिन्तन में लीन हो जाया करते। वे सोचते "क्या मेरे जैसे व्यक्ति के उद्धार का भी कोई मार्ग है?" ऐसी मनःस्थिति में उन्हें श्रीरामकृष्णदेव के दर्शन होते हैं जो उनके जीवन के एक नये अध्याय को खोल देता है।

गिरीशचन्द्र घोष के हृदय में सदा ही दो विरोधी प्रवृत्तियों का संघर्ष होता रहा है। हम उनके शैशव में ही इन प्रवृत्तियों का परिचय पा सकते हैं। बालक गिरीश की चंचलता, हठधर्मिता और अशासित निरंकुश स्वभाव को देखकर उनके परिजन पर्याप्त चिन्तित थे। कालान्तर में गिरीश के जीवन में नैतिक अराजकता का जो भयावह स्वरूप हमें दीखता है उसका मूल कारण उनके परिवारिक जीवन का विघटन ही था। जब वे ग्यारह वर्ष के थे तभी उनकी माता का देहावसान हो गया था। जब तक माता जीवित रहीं तब भी बालक गिरीश मातृ-स्नेह से पूर्णतः वंचित रहे। इसका कारण यह था कि प्रथम पुत्र की मृत्यु ने माता को गिरीश के प्रति विरक्त बना दिया था। मातृ-प्रेम के अभाव में बालक गिरीश की सद्प्रवृत्तियों का यथेच्छ विकास नहीं हो पाया। यद्यपि नियमानुशासन से वे कोसों दूर थे फिर भी जब वे पौराणिक कथाएँ सुनते तब उनकी समस्त उद्दण्डता विलीन हो जाती और वे हृदयवान् श्रोता की तरह कथा के प्रवाह में डूबने-उबराने लगते। कभी-कभी कथा को सुनते-सुनते उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकलती और दूसरे ही क्षण प्रसंगानुकूल उनका बदन दिव्य शांति और स्वर्गिक उल्लास से जगमगा उठता। यदि गिरीश के व्यक्तित्व की पहली प्रवृत्ति ने उसे नैतिक अराजकता के अनदेखे छोरों तक दौड़ाया तो उनके व्यक्तित्व की दूसरी प्रवृति ने उसे देवमानव श्रीरामकृष्ण के चरणों की ओर आकर्षित किया और भक्त शिरोमणि बना दिया।

जब बालक गिरीश युवक गिरीश बने तब युग की परिस्थितियों से वह अछूते न रह सके। उनकी शिक्षा उचित वातावरण के अभाव से समुचित विधि से सम्पन्न नहीं हो सकी थी। दुर्दमनीय युवा भावनाओं ने उन्हें पथभ्रष्ट कर दिया था। वे भावनाओं के प्रवाह में बहते ही गए। उनका युग बुद्धिवादी था। किसी भी तथ्य की प्रमाणिकता तर्क के द्वारा ही सिद्ध समझी जाती थी। इसलिए वे विलम्ब से ही इस तथ्य को समझ सके कि धर्म तर्क का विषय नहीं है। उसकी अनुभूति की जा सकती है, किन्तु तर्क के द्वारा उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। गिरीश आदि पाश्चात्य सभ्यता में दीक्षित नवयुवकों को धर्म की अनुभूति प्राप्त करने का धैर्य कहाँ था? वे धर्म को अन्धविश्वास से ऊँची वस्तु नहीं समझते थे, मूर्तिपूजा को ढकोसला मानते थे और ईश्वर के लिए विलाप करना उन्हें पागलपन की असाध्य अवस्था प्रतीत होती थी। गिरीशचन्द्र घोष पर इन विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। नास्तिकता इस युग की वायु में बस-सी गई थी। वह व्यक्ति ही प्रतिष्ठित और विद्वान् समझा जाता था जो ईश्वर के अनस्तित्व का प्रतिपादन करे और ईश्वर पर विश्वास करने वालों को ँसी उड़ाए। ऐसे वातावरण में ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करना अपनी मूर्खता और दुर्बलता का विज्ञापन करना था। गिरीश की मेधा अत्यन्त सूक्ष्म थी। ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करने वाले जो भी तर्क उनके सामने प्रस्तुत करते उनका वे तत्काल खंडन कर देते। विज्ञान की सफलता पर उन्हें पूरा विश्वास था।

पाश्चात्य देशों की वैज्ञानिक प्रगति का अनुशीलन करने के उपरान्त वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धर्म कल्पना का विषय है। उसका यथार्थ जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म समाज का ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा वह लोगों को बुरे कार्यों को सम्पादित करने से रोकता है। धर्म के द्वारा विवेक का अर्जन नहीं किया जा सकता। विवेक तो सांसारिक बुद्धि का नाम है। जो व्यक्ति जितनी कुशलता से अपने स्वार्थों की पूर्ति कर लेता है वह उतना ही अधिक विवेकी है। किन्तु धीरे-धीरे गिरीशचन्द्र यह भी समझने लगे कि इस प्रकार का विवेक मनुष्य का अधिक दिनों तक साथ नहीं दे सकता। अनुचित कार्यों के फलों से छुटकारा नहीं मिल सकता और उन्हें अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है।

इसी समय उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना का सूत्रपात होता है जो उनकी जीवन दृष्टि को पूरी तरह से परिवर्तित कर देता है। भौतिक सुखों की मरीचिका में फँसे गिरीशचन्द्र पर विशूचिका का आक्रमण होता है। यह जानलेवा रोग उनके हृष्ट-पुष्ट शरीर को जर्जरित बना देता है। उनके बचने की कोई आशा नहीं रहती। नवपरिणीता पत्नी का अश्रुसिक्त मुख गिरीश को आने वाले भयावह क्षण की स्मृति करा देता है। परिजनों के नैराश्यमण्डित मुख उन्हें विदा-याचना करते दीखते हैं। पर गिरीश इतनी जल्दी काल-कवलित होने वाले नहीं थे। वे भैरव थे[1], शिव के पार्षद

(1) श्रीरामकृष्णदेव ने एक दिन समाधि की अवस्था में देखा कि

थे। उनका कार्य करने आए थे। ईश्वरावतार के जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन करने के लिए उनका देह धारण हुआ था। मृत्यु के भय से व्याप्त एक गहन रात्रि में उन्हें अभूतपूर्व स्वप्न दिखता है। वे देखते हैं कि एक दिव्य नारी मूर्ति उनके सामने खड़ी है। उनके मुख में स्वर्गिक दया और ममत्व की भावना व्याप्त है। वे लाल किनारी की साड़ी पहने हैं और अत्यन्त स्नेहपूर्ण स्वर में कह रही हैं, "मैं तुम्हारे लिए महाप्रसाद लाई हूँ। इसे खा लो। तुम शीघ्र ही रोगमुक्त हो जाओगे।"[२] गिरीश महाप्रसाद ग्रहण कर लेते हैं। जब वे जागते हैं तो स्वप्न को ईश्वरीय कृपा का प्रतीक समझते हैं तथा लोगों की सम्भावना के विपरीत शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ कर लेते हैं। इसके बाद से ईश्वर के अस्तित्व के विषय में उनकी धारणा लड़खड़ाने लगती है।

माता जगततारिणी के विग्रह के समीप एक दिगम्बर बालक अपने हाथ में सुरापात्र लिए खड़ा है। उन्होंने पूछा, "तुम कौन हो?" उत्तर मिला, "मैं भैरव हूँ!" उन्होंने पुनः जिज्ञासा की, 'तुम क्यों आए हो?" उसने कहा, 'तुम्हारा कार्य करने।" जब श्रीरामकृष्ण गिरीशचन्द्र घोष को देखते हैं तो उसमें उसी भैरव को वर्तमान पाते हैं।

(२) वर्षों बाद जब गीरीशचन्द्र घोष भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की लीला सहधर्मिणी श्री सारदा देवी के दर्शनार्थ जयरामबाटी जाते हैं तो उनका दर्शन करते ही वे अपने स्वप्न का स्मरण करने लगते हैं। स्वप्न की दिव्य नारी मूर्ति और श्रीमाँ सारदा के स्वरूप में उन्हें आश्चर्यजनक समानता मिलती है।

वे अब समझने लगते हैं कि इस दृश्यमान जगत् के मूल में अवश्य ही ऐसी कोई चेतन शक्ति है जो लोगों की नियति का निर्धारण करती है। इसे ही धर्मशास्त्रों में ईश्वर कहा गया है और इसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। इस दैवी घटना के पश्चात् गिरीशचन्द्र की मानसिक अवस्था पश्चात्ताप और ग्लानि की तरंगों से आक्रान्त हो उठती है। वे यह अनुभव करने लगते हैं कि मानव सान्त है। उसकी बुद्धि सीमित है। अतः मनुष्य अपनी सीमित और मर्यादित बुद्धि के द्वारा असीम और अनन्त ईश्वर को कैसे जान सकता है? किन्तु संदेह तो उनकी नसों में प्रवाहित हो रहा था। किसी भी वस्तु को बिना तर्क के वे कैसे स्वीकार कर सकते थे? किसी अपरीक्षित विचार पर विश्वास करना उनके स्वभाव के विपरीत था। इस स्थिति में हम गिरीशचन्द्र घोष को आस्था और सन्देह के अतिवादी छोरों के बीच में तरंगायित होने वाले त्रिशंकु के समान पाते हैं।

इसी त्रिशंकुकालीन मनःस्थिति में उनकी भेंट श्रीरामकृष्णदेव से होती है। श्रीरामकृष्ण कलकत्ते में दीनानाथ बसु के यहाँ आमंत्रित हैं। कौतूहलवश गिरीश भी उन्हें देखने जाते हैं। सन्ध्या हो गई है। दिए जला दिए गए हैं। कमरे में श्रीरामकृष्ण समाधि में लीन हैं। धीरे-धीरे उनका मन बाह्य भूमिका में उतरता है। वे पूछते हैं, "क्या सन्ध्या हो गई?" संदेहवादी गिरीशचन्द्र इसे प्रथम श्रेणी का आडम्बर समझते हैं और उल्टे पैरों लौट जाते हैं। किन्तु उनके मन को चैन

नहीं है। वे देख रहे हैं कि उनके दुष्कृत्यों का फल प्रकट हो रहा है। उनका भविष्य निराशा की स्याही से लिखा हुआ है। सुख के सब साथी हैं, किन्तु पश्चात्ताप और घुटन के इन क्षणों में उनका कोई साथ नहीं देता। वे सखाहीन हो जाते हैं। वे पुनः सोचते हैं, "क्या वास्तव में ईश्वर हैं? यदि कोई जागतिक व्याधि से त्राण पाने के लिए उन्हें कातर स्वर से पुकारे तो क्या वे दुःख और आकस्मिकता से भरे जीवन में कोई मार्ग बता सकते हैं?" गिरीशचन्द्र को ज्ञात होता है कि ईश्वर के दर्शन गुरु के बिना नहीं हो सकते और ईश्वर की कृपा से ही संसार रूपी सागर को पार किया जा सकता है। गिरीश पुनः गहरी चिन्ता में डूब जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि उन्हें ऐसा गुरु कहाँ मिलेगा जो उन्हें ईश्वर के दर्शन करा सकता है? उनका मन मनुष्य को गुरु के रूप में स्वीकार नहीं करता क्योंकि गुरु तो ईश्वर का प्रतिनिधि होता है, और दुर्बलताओं एवं अपूर्णताओं से युक्त मनुष्य भला किस प्रकार गुरु हो सकता है?

उनकी ईश्वरोपलब्धि की तीव्र इच्छा उन्हें पुनः श्रीरामकृष्णदेव की ओर अनजाने में ही खींच ले जाती है गिरीशचन्द्र पुनः कलकत्ते में 'श्रीराम कृष्ण' के दर्शन करते हैं। अब गिरीश श्रीरामकृष्ण को देखकर आश्चर्य विह्वल हैं। उनका आचरण पहले से बिलकुल भिन्न है। वे अपूर्व श्रद्धा और उल्लास भरे नयनों से उस देवमानव की अमृत प्रभा का एकटक पान करने लगते हैं। उनके हृदय में उठने वाला अविश्वास और संदेह का झंझावात प्रशमित होने

लगता है। इसके बाद वे अनेक बार श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन करते हैं और उनसे अत्यधिक प्रेम करन लगते हैं। धीरे-धीरे श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक ऊँचाई के सम्बन्ध में उनका विश्वास दृढ़तर होता जाता है। उन्हें इस बात का भी पूरा विश्वास हो जाता है कि ये सब महापुरुष ही उन्हें दुःख और चिन्ता से मुक्त कर सकते हैं। वे अनुभव करते हैं कि जब वे श्रीरामकृष्णदेव के सामने रहते हैं तब भव-बाधाएँ नहीं सतातीं किन्तु जैसे ही वे उनसे विलग होते हैं वैसे ही अनेक प्रकार की चिन्ताएँ उनके मन को व्यापित कर लेती हैं और उनके हृदय को सखे पत्ते की तरह झकझोर डालती हैं। उनकी यह दृढ़ धारणा हो जाती है कि ये महापुरुष ही उनके गुरु का सन्धान कर सकते हैं और उनकी प्राप्ति के उपाय भी बता सकते हैं। गिरीश का हृदय धीरे-धीरे स्थिर होने लगता है। एक दिन वे उनसे पूछ ही बैठते हैं, "महाशय, गुरु क्या है?" हास्यवदन श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "वह आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन कराने वाला अधिकारी पुरुष है।" इतना ही नहीं, श्रीरामकृष्ण यह भी बता देते हैं, "तुम्हारा गुरु निश्चित हो चुका है।" आनन्दविह्वल गिरीश पुनः पूछते हैं, "गुरु मंत्र क्या है?" उत्तर मिलता है—"प्रभु का नाम।" गिरीशचन्द्र के आनन्द की अब सीमा नहीं रहती। उनके हृदयाकाश में छाई हुई द्विधा और संदेह की मेघमालाएँ भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के वचन-प्रभञ्जन से छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। युगबुझा विश्वास का दीपक प्रकाशमान हो उठता है और अपनी

कल्याणमय ज्योति से गिरीश के उर-गह्वर को आलोकित कर देता है।

अवतार पुरुषों की उक्तियाँ साधारण नहीं होतीं। उनमें गहरा अर्थ भरा रहता है। सामान्य जन उनकी उक्तियों की गम्भीरता को समझ नहीं पाते। जो वास्तव में अन्तर्मुखी होते हैं उन्हें ही उनकी उक्तियों के निगूढ़ अर्थ का बोध हो सकता है। गिरीशचन्द्र अन्तर्मुखी थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के वचनों में निहित गूढ तत्व का बोध किया था। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं था। भगवान् श्रीरामकृष्णदेव गिरीशचन्द्र को सभी प्रकार के दोषों से मुक्त करना चाहते थे। इस ध्येय की सिद्धि के लिए श्रीभगवान् ने गिरीश के जीवन में अनेकानेक घटनाओं की नियोजना की थी।

गिरीश अमर्यादित स्वभाव के थे। जब वे सुरापान करते तो उन्हें चेतना नहीं रहती। एक दिन श्रीरामकृष्णदेव गिरीश के द्वारा रचित 'प्रह्लादचरित' नाटक देखने आए। गिरीश अत्यधिक पान से अपनी चेतना खो बैठे थे और अनाप-शनाप बकने लगे थे। श्रीरामकृष्णदेव तुरन्त दक्षिणेश्वर लौट गए। दूसरे दिन अनेक भक्तों के मना करने पर भी गर्मी की झुलसती हुई दुपहरी में वे गिरीश के घर की ओर जाने लगे। विगत रात्रि की घटना ने गिरीश को पागल बना दिया था। ग्लानि और आत्म वंचना के प्रहारों से आक्रान्त गिरीश विषण्णवदन बैठे थे। श्रीरामकृष्णदेव के ममत्वपूर्ण सम्बोधन से उनके हृदय का सम्पूर्ण विषाद आंसुओं के रूप में बह निकला।

इसी के अनन्तर एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना घटती है। एक दिन सन्ध्या के समय गिरीशचन्द्र अपनी नाटक कम्पनी में कार्य करने वाली अभिनेत्री के अस्वस्थ होने के कारण उसे देखने जाते हैं किन्तु अत्यधिक पान के कारण वे घर नहीं लौट पाते और उन्हें वहीं रात्रि यापन करना पड़ता है। प्रातःकाल जब उन्हें अपने कृत्य की चेतना होती है तो वे आत्मा के तिरस्कार से क्षुब्ध होकर दक्षिणेश्वर की ओर रवाना होते हैं किन्तु सुरापात्र उनके इक्के में फिर भी रखा रहता है। इक्के से उतर कर व्याकुल-हृदय गिरीश दौड़ते हुए श्रीरामकृष्णदेव के समीप पहुँचकर उनके चरणों में गिरकर फूट फूट कर रोने लगते हैं। इसीबीच श्रीरामकृष्ण कौशल से गिरीश के इक्के में रखा हुआ सुरापात्र मंगा लेते हैं। जब भावनाओं का आवेश कम होता है तो वे पान करने की इच्छा से इक्के की ओर जाते हैं पर वह सब उन्हें वहाँ नहीं मिलता। निराश होकर वे पुनः लौट आते हैं। श्रीराम-कृष्ण देव उन्हें देखते ही स्मित हास्य के साथ सुरापात्र गिरीश के समक्ष रख देते हैं। गिरीश तीव्र इच्छा के वशी-भूत होकर सब के सामने जब शराब पी लेते हैं तब दूसरे ही क्षण उन्हें अपने कार्य पर क्षोभ होता है और वे अपराधी की दृष्टि से श्रीरामकृष्णदेव की ओर कातर नेत्रों से देखने लगते हैं। अपार करुणामय श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "गिरीश, जी भरकर पी लो। अब यह अधिक दिनों तक नहीं चलेगा।"

श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत साहचर्य में गिरीश के दोष एक-

एक कर छूटने लगे। उनके पावन वचनों को सुनकर गिरीश के मन की शंकाएँ विलीन होने लगीं। उक्त घटना के पश्चात् गिरीश ने फिर कभी शराब का स्पर्श तक नहीं किया। श्रीरामकृष्णदेव के अमृतमय स्नेह ने गिरीशचन्द्र के दुर्धर्ष स्वभाव को फूल के समान कोमल बना दिया। उनका सम्बन्ध अत्यन्त अद्भुत था। श्रीरामकृष्णदेव के स्नेह ने गिरीशचन्द्र को एक नया जीवन दिया था। जब भी रामकृष्णदेव गिरीश से मिलने कलकत्ते जाते तो वे उनके लिए मिठाइयाँ और फल आदि खाद्य सामग्रियाँ ले जाया करते और अपने सामने उन्हें खिलाया करते। अनेक अवसरों पर श्रीरामकृष्णदेव ने अपने हाथों से स्नेहमयी माता के समान गिरीश को भोजन कराया था।

एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने गिरीश से कहा, "तुम कार्य में लगे रहते हो, यह तो ठीक है, पर तुम्हें भगवान् का स्मरण प्रतिदिन सबेरे-शाम कर लेना चाहिए।" यह कितना सरल आदेश था! किन्तु इससे गिरीशचन्द्र के मन में विचारों की तरंग उठने लगी वे सोचने लगे, "मैं बहुत व्यस्त रहता हूँ। पता नहीं मैं प्रातःकाल उठ सकूँगा या नहीं। उठ भी गया तो क्या यह निश्चित है कि मैं भगवान का स्मरण करना नहीं भूलूँगा? इसीप्रकार सन्ध्या के समय भी यदि मुझे भगवान का स्मरण करना याद न रहा तो फिर क्या होगा?' ऐसी स्थिति में इस बात की प्रतिज्ञा कैसे कर सकता हूँ? यदि मैंने प्रतिज्ञा कर भी ली और वह मुझसे सध न सकी तो क्या गुरु-आदेश को भंग करने का

दोष मुझे नहीं लगेगा ?" श्रीरामकृष्णदेव ने उनकी कठिनाई का अनुमान लगा लिया इसलिए उन्होंने पुनः कहा, "अच्छी बात है, यदि तुमसे यह सध न सके तो तुम कम से कम भोजन करने से पहले और सोने के पहले भगवान् का स्मरण कर लिया करो।" यह तो और भी सरल बात थी, पर गिरीश का नियमविद्रोही मन इसे स्वीकार न कर सका। वे फिर विचारों के सागर में गोते लगाने लगे, "मेरे खाने-सोने का भला क्या ठिकाना। मैं कभी नियमित समय पर भोजन नहीं करता. और भोजन करने के समय भी अनेक प्रकार की चिन्ताएँ मन को सालती रहती हैं। इसी तरह सोने का समय भी निश्चित नहीं है। सोने के समय में दिन भर की थकान से मन इतना बोझिल हो जाता है कि और कोई बात मन में नहीं आती। अगले दिन किए जाने वाले कार्यों की योजनाओं में मन डूब जाया करता है। ऐसी स्थिति में मैं भगवान् के नामस्मरण की प्रतिज्ञा कैसे कर सकता हूँ ?" श्रीरामकृष्णदेव गिरीश को मौन देखकर उनका मन्तव्य जान गए। उनके विचारों को पढ़कर श्रीरामकृष्णदेव ने फिर कहा, "अच्छी बात है, यदि तुमसे इतना भी करते नहीं बनता तो तुम अपना वकलमा मुझे दे दो। अब तुम्हें कुछ भी करना नहीं पड़ेगा। अबसे मैं ही तुम्हारे कार्यों का उत्तर-दायी रहूँगा।" यह सुनकर गिरीशचन्द्र बड़े ही निश्चिन्त हुए। वे सोचने लगे, "मैं अब बच गया। मैं अब पवन के समान अबाधित हो गया। मुझे अब कोई चिन्ता नहीं।" वकलमा

का अर्थ है अपने कार्यों की जिम्मेदारी किसी अन्य व्यक्ति को सौंप देना। गिरीश श्रीरामकृष्णदेव की असीम अनुकम्पा को देखकर गद्‌गद्‌ थे। उन्हें उस समय यह समझ में नहीं आया कि उन्होंने नियमों के बन्धन को त्यागकर प्रेम के बन्धन को ग्रहण कर लिया है जो अन्य बन्धनों की अपेक्षा अधिक दृढ़तर और स्थायी है। वे श्रीरामकृष्णदेव की कृपा-वारिधि में डूबने उतराने लगे। इससे उनके जीवन में एक दृढ़ विश्वास की स्थापना होती है। वे सोचने लगते हैं कि "भले ही लोग मुझसे घृणा करें, मुझे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं। मैं अन्य किसी के प्रेम की याचना नहीं करता। श्रीरामकृष्णदेव के दिव्य प्रेम के सामने सांसारिक प्रेम को चाहना गंगा के किनारे कुँआ खुदाने के समान मूर्खता करना है। अब उनके प्रेम से मेरा जीवन परिपूर्ण हो जाएगा।" "श्रीरामकृष्णदेव ने मेरा उत्तरदायित्व ग्रहण किया है," यह विचार गिरीशचन्द्र के जीवन में अमृतमय प्रशांति की सृष्टि करने लगता है।

सम्पूर्ण रूप से ईश्वर के प्रति समर्पण भाव ही वकलमा है। वकलमा लेना सामान्य व्यक्तियों के वश की बात नहीं है। जो ईश्वर के अवतार होते हैं, वे ही वकलमा ले सकते हैं। प्रत्येक अवतारी पुरुष इस प्रकार का वकलमा लेते हैं। जब व्यक्ति संसार के दुखों से त्रस्त हो जाता है, जब उसे जागतिक व्यापारों की क्षणभंगुरता और सारहीनता का बोध होता है, तब वह कातर स्वर से जगन्नियन्ता को पुकारता है और उद्धार की प्रार्थना करता है। पतितपावन भगवान्

भक्तों की प्रार्थना को सुनकर अवतार के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं और उन्हें जगत के आवागमन से मुक्त करते हैं। गजराज की प्रार्थना सुनकर शेषशायी भगवान की नींद टूट गई थी, अजामिल के नामोच्चरण से उनका हृदय करुणा से भर गया था, और गिरीश घोष की कातर स्थित को देखकर श्रीभगवान् ने उनका वकलमा स्वयं ग्रहण किया था। श्रीरामकृष्णदेव का वकलमा लेना इसी सनातन सत्य की अभिव्यंजना है, श्रीभगवान् की गीता में की गई प्रतिज्ञा का ही अभिनव संस्करण है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।"

अर्थात् जब व्यक्ति यह जान लेता है कि भगवान् कण-कण में आत्मा के रूप में व्याप्त हैं, सर्वभूतों में स्थित हैं और जन्म, जरा और मरण से परे हैं, जब वह जगत् के कार्य-व्यापार की भयानकता को देखकर त्राण पाने के लिए सम्पूर्ण रूप से परमेश्वर के चरणों में समर्पित हो जाता है और अपने जीवन की बागडोर उनके कर कमलों में सौंप देता है, तब श्रीभगवान् उसका वकलमा ले लेते हैं, उसे अपने दिव्य स्वरूप से परिचित करा देते हैं और उसके हृदय में ज्ञान के दीप को जलाकर अज्ञानरूपी अंधकार का नाश कर देते हैं। गिरीशचन्द्र का भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के ईश्वरत्व पर अमोघ विश्वास था उन्होंने सांसारिक व्याधि से त्रस्त होकर त्राण पाने के लिए उनके समक्ष सच्चे हृदय से प्रार्थना की थी, और उनकी प्रार्थना सुनी गई। तब क्या हम भी अपना

वकलमा प्रभु को सौंपकर गिरीशचन्द्र के समान पूजा, अनुष्ठान के बन्धनों से नहीं छूट सकते ?

जिस प्रकार वकलमा लेना सहज नहीं है उसी प्रकार वकलमा देना भी सहज नहीं है। यदि मैं सोचूँ कि मैंने भगवान् को अपना वकलमा दे दिया है और फिर निश्चिन्त होकर तरह-तरह के दुष्कर्म करता जाऊँ तब तो मैं सबसे घृणित पाप करूँगा, भगवान् के मंगलमय स्वरूप पर अपने कलंक का दाग लगाऊँगा। इस प्रकार के भ्रम से महान् अकल्याण की सम्भावना है। वकलमा देने का अर्थ परमात्मा को केवल अपने कार्यों का भार सौंपना ही नहीं है अपितु अपनी समस्त क्रियाप्रेरणा को प्रभु के अधीन कर देना है। ऐसी स्थिति में प्रभु हमारे अत्यन्त निकट प्रतीत होते हैं और हम अपने प्राण-प्राण में उनके मंगलमय सान्निध्य का अनुभव करने लगते हैं। यदि हम ऐसा अनुभव नहीं करते, यदि हमें भगवान् का नाम लेने में, उनके स्वरूप का चिंतन करने में अरुचि होती है तो हमें समझना चाहिए कि हमने पूरी तरह से अपना वकलमा प्रभु को नहीं सौंपा है और हम स्वयं अपनी आत्मा से छल कर रहे हैं। वकलमा देना उच्च आध्यात्मिक स्थिति में ही सम्भव है और विरले ही अपना वकलमा प्रभु को दे पाते हैं, और जो प्रभु को सच्चे हृदय से अपना वकलमा सौंप देते हैं उनका जीवन धन्य हो जाता है।

जब गिरीशचन्द्र को धीरे-धीरे वकलमा के गम्भीर अर्थ का बोध होने लगा तब वे देखने लगे कि भले ही उन्हें नियम-

पूर्वक जप-अनुष्ठान नहीं करने पड़ते किन्तु पग-पग में श्रीभगवान् की मंगलमयी मूर्ति उनके सामने उपस्थित हो जाती है। प्रत्येक श्वास प्रश्वास प्रभु के चिन्तन से युक्त होता है। कार्य के प्रत्येक क्षण में प्रभु का स्मरण अविच्छिन्न रूप से होता रहता है एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने गिरीश को मिथ्याभाषण करने से मना किया। गिरीश बोले, "महाशय, मैं तो असंख्यों झूठ बोलता हूँ फिर भला मैं कैसे सत्यवादी बन सकूँगा।" श्रीरामकृष्णदेव ने कहा—"इसकी तुम चिंता मत करो, तुम सत्य और असत्य दोनों से परे हो।" उस घटना के पश्चात् गिरीश जैसे ही मिथ्याभाषण के लिए उद्यत होते वैसे ही श्रीरामकृष्णदेव की मूर्ति उनकी आँखों के सामने आ जाती और उनके मुख से असत्य भाषण नहीं हो सकता। श्रीरामकृष्णदेव ने प्रेम के माध्यम से गिरीश के हृदय पर पूरा अधिकार कर लिया था। उनके असीम प्रेम के सम्बन्ध में गिरीशचन्द्र कहा करते थे कि ऐसा कोई पाप नहीं है जिसे मैंने न किया हो किन्तु श्रीरामकृष्णदेव से जो प्रेम मुझे मिला है उसकी भी कोई सीमा नहीं है। यदि कोई ठाकुर के सीमापारी प्रेम का अनुभव अपने हृदय में करे तो उसकी सभी वासनाएँ क्षण मात्र में विलीन हो सकती हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए ईश्वर प्राप्ति के हेतु अन्य किसी योग-साधन की आवश्यकता नहीं होगी। प्रभु के असीम प्रेम को हृदय में अनुभव करना मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।"

गिरीशचन्द्र के जीवन में हम इसी लक्ष्य को साकार पाते हैं। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को

ईश्वरावतार घोषित किया था। परवर्ती काल में जब श्रीरामकृष्णदेव गले की व्याधि से पीड़ित होकर काशीपुर उद्यान वाले भवन में निवास कर रहे थे तब एक दिन उन्होंने गिरीश से अचानक पूछा, "अच्छा गिरीश, यह तो बताओ कि तुमने मुझमें ऐसा क्या पाया है जिससे तुम मुझे ईश्वर के अवतार के रूप में विज्ञापित करते हो ?" ठाकुर के इस आकस्मिक प्रश्न से गिरीश के हृत्तंत्री के तार झनझना उठे, उनका कंठ भर आया और वे करबद्ध होकर कातर स्वरों से कहने लगे, "प्रभु, जिसके गौरव और तेज की थाह व्यास और वाल्मीकि जैसे ब्रह्मवेत्ता ऋषि नहीं पा सके उसके सम्बन्ध में मेरे जैसा नगण्य जीव भला क्या कह सकता है?" गिरीश के वचनों को सुनकर श्रीरामकृष्णदेव गम्भीर समाधि में पहुँच गए और उसी उच्च भावावेश में कहने लगे, "अब मैं क्या कहूँ ? मैं तुम सबको आशीर्वाद देता हूँ। तुम सब पर भगवान् की कृपा की वर्षा अजस्र रूप में हो।" यह कहते हुए प्रत्येक के ग्रहण-धारण योग्य आध्यात्मिक सम्पदा का वितरण भगवान् श्रीरामकृष्णदेव भक्तों का स्पर्श मात्र करके करने लगे। श्रीभगवान् के तेजपूर्ण स्पर्श ने भक्तों के युगावरुद्ध आध्यात्मिक नेत्रों को खोल दिया और उनका हृदय आत्मसाक्षात्कारजन्म आनन्द से लबालब भर गया। गिरीशचन्द्र ने देखा कि युगावतार भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के समीप योग्य-अयोग्य का विचार नहीं है और वे कल्पतरु के समान सभी प्रकार के भेदों को त्यागकर मुक्तहस्त से मुक्तिरूपी मणियों को लुटा रहे हैं।

गिरीशचन्द्र घोष का परवर्ती जीवन श्रीरामकृष्णदेव के दिव्य व्यक्तित्व के प्रभाव से व्याप्त हो गया। श्रीरामकृष्ण-देव के लीला-संवरण के पश्चात् वे अन्य गुरु भाइयों के साथ प्रभु के चिन्तन में डूब गए। वे आत्मसमर्पणमूलक भाव की पराकाष्टा में पहुँच गए थे। इसीलिए जब स्वामी निरंजनानन्दजी ने उन्हें सन्यास ग्रहण करने के लिए कहा तो गिरीशचन्द्रने उत्तर दिया,"मैं तुम्हारे शब्दों को ठाकुरके शब्दों के समान मान सकता हूँ पर मुझे कुछ भी करने की स्वतंत्रता नहीं है क्योंकि मैंने अपना वकलमा उन्हें ही सौंप दिया है।"

अब श्रीभगवान् नानाविध विपदाओं में डालकर गिरीश की परीक्षा लेते हैं। सांसारिक विपत्तियों का उनपर पहाड़ टूट पड़ता है। द्वितीय पत्नी से उत्पन्न उनकी दोनों कन्याओं की अकाल मृत्यु हो जाती है। एक पुत्र को जन्म देकर उनकी पत्नी भी उनका साथ छोड़ देती हैं। उनका छोटा पुत्र, जो प्रारम्भ से ही भगवान् के नाम को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता था, काल-कवलित हो जाता है। गिरीशचन्द्र जीवन के सन्ध्याकाल को देख रहे थे। ऐसे समय में किसका मन स्थिर रह सकता है ? पर इन दुर्घटनाओं से गिरीशचन्द्र की श्रद्धा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनका हृदय कष्टों की अग्नि में तपकर कंचन के समान शुद्ध और पवित्र हो जाता है। जागतिक विषमता के तुमुल कोलाहल में भी प्रभु के प्रति पूर्णसमर्पण भाव रखकर आसक्तिरहित जीवन बिताया जा सकता है—गिरीश का जीवन इसी सत्य की अभिव्यंजना बन जाता है। वे अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के अमृतमय संस्पर्श का अनुभव किया करते थे। श्रीभगवान् की कृपा से उनके सांसारिक बंधन एक-एक कर टूटते गये। अंतिम समय में वे अपने गुरुभाइयों से कहा करते थे, "भाई ! मैं अन्य किसी वस्तु की कामना नहीं करता। मुझे आशीर्वाद दो कि मैं असीम प्रेम और दया के विग्रहस्वरूप ठाकुर का सदैव स्मरण करता रहूँ। श्रीभगवान् की दया से अब मुझे यह संसार भयावह प्रतीत नहीं होता। उनकी कृपा से मृत्यु का भय छूटता जा रहा है।" और, एक गम्भीर रात्रि में गिरीशचन्द्र घोष के कक्ष से मेघ-गम्भीर स्वर में तीन बार प्रभु का नामोच्चरण सुन पड़ता है; साथ ही सुन पड़ते हैं बंगाल के सुप्रसिद्ध नाटककार और ख्यातिलब्ध साहित्यकार के अन्तिम शब्द, और सुन पड़ती है उद्‌भट कवि और भक्तशिरोमणि गिरीशचन्द्र घोष की वाणी, "प्रभु ! मुझे शांति दो, मुझे अपनी गोद में ले लो।" दूसरे ही क्षण उल्कापात होता है और पूर्व की एक ज्योतिरूप आत्मा देह के बन्धनों को त्यागकर ईश्वरत्व के आलोक में मिल जाती है।

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
भावो हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो ही कारणम्॥

—देवता न तो काष्ठ में रहते हैं, न पत्थर में और न मिट्टी में। देवता तो भाव में रहते हैं, इसलिये भाव ही सबका कारण है।

युग-द्रष्टा स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक हरवंशलाल चौरसिया

भारतीय सांस्कृतिक नव जागरण के प्रारंभिक काल में श्रीरामकृष्ण-परमहंस और स्वामी विवेकानन्द का प्रादुर्भाव एक अभूतपूर्व दैवी घटना थी। एक ही युग में वेदान्त-धर्म-सरोवर में दो कमनीय कमल खिले; दोनों ने ही मुक्त हस्त से पराग बिखेरा— उस देवोपम सुरभि ने लाखों निराश और भटके हुए हृदयों में प्राण फूँक दिये। परमहंस ने जीवन का गहराई से अवलोकन किया था। उनकी आध्यात्मिक साधना और ईश्वरभक्ति से संबंधित भावनाओं में सामाजिक आदर्शों के संकेत प्राप्त होते हैं। समस्त आदर्शों के मूल में उन्होंने ईश्वर की सत्ता के प्रति अटूट विश्वास की भावना प्रतिष्ठित की। उनके अनुसार ईश्वर का अद्वैतभाव से दर्शन और उसकी सर्वव्यापकता पर विश्वास हमें सत्य की ओर ले चलता है। वास्तव में वे धर्म की समग्रता के प्रतिनिधि, अनुभूतियों के आगार तथा धर्म के जीते जागते स्वरूप कहे जा सकते हैं। पूज्य बापू का यह कथन कि- रामकृष्ण की जीवनी व्यवहार में आये हुए जीवित धर्म की कहानी है— इसी सत्य का प्रकाशन है। यदि यह कहा जाये कि रामकृष्ण और विवेकानन्द एक ही जीवन के दो पक्ष थे, तो अनुचित न होगा; रामकृष्ण यदि अनुभूति थे तो विवेकानन्द उसकी व्याख्या बनकर आये। स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण को

हिन्दू धर्म की गंगा कहा है जो वैयक्तिक समाधि के कमंडलु में बंद थी, विवेकानंद इस गंगा के भागीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमंडलु से निकालकर सारे विश्व में प्रवाहमान कर दिया।

सन्देह दर्शन की जननी एवं जिज्ञासा ज्ञान की माता है अतः अपनी ब्रह्मजिज्ञासा को शान्त करने के लिये स्वामी जी ने अनेक विद्वानों एवं प्रचलित विचारधाराओं से संपर्क स्थापित किया पर उन्हें वास्तविक संतोष की उपलब्धि नहीं हुई। परमहंस से उनकी भेंट, उनके जीवन में एक नया मोड़ लाती है। उनके आध्यात्मिक संस्पर्श ने नरेन्द्रनाथ को विवेक एवं आनन्द से परिपूर्ण कर विवेकानन्द बना दिया। परमहंस की शिक्षा एवं वेदान्त दर्शन ने और विशेषतया विश्वदर्शन ने सामान्य रूप से स्वामी विवेकानन्द के दर्शन की पृष्ठभूमि का निर्माण किया। अपने प्राचीन एवं परम तथ्यों को विस्मृत कर अकर्मण्यता की गहरी निद्रा में लीन भारत की सुप्त आत्मा को स्वामी जी के दिव्य सन्देश ने जाग्रत कर स्फूर्ति प्रदान की, मानवीय स्वाभिमान का भाव भरा तथा उसे एक आदर्शपूर्ण भविष्य की नई दृष्टि दी।

स्वामी विवेकानन्द पूरे अर्थों में युगद्रष्टा एवं महान् दार्शनिक थे। सच्चा दार्शनिक अपने युग की समस्याओं की उपेक्षा नहीं कर सकता एवं प्रत्येक जीवित दर्शन सुदूर क्षितिजोन्मुख सर्वव्यापनी दृष्टि रखते हुए भी यथार्थ की धरती से नाता नहीं तोड़ सकता है। स्वामीजी एवं उनका

दर्शन इस तथ्य के ज्वलंत प्रमाण हैं। शताब्दियों की परतन्त्रता के फलस्वरूप धर्म और दर्शन, मात्र बाह्याडंबरों, अन्धविश्वासों, निरे कर्मकाण्ड एवं विचारों की संकीर्णता के पर्यायवाची बनकर, देश और समाज को नवीन दृष्टि प्रदान कर उसे सक्रिय एवं सजीव बनाने में असमर्थ हो चुके थे;—ऐसी विवशतापूर्ण एवं करुणामयी स्थिति से उनका हृदय द्रवीभूत हो उठा। उन्होंने मौलिक और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाते हुए भारत के दार्शनिक और धार्मिक इतिहास की पुनर्व्याख्या की तथा उसे युगानुकूल प्रगति के मार्ग पर आरूढ़ होने की प्रेरणा दी।

भारतीय दर्शन के विकास की तीन अवस्थाएँ हैं—द्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद एवं अद्वैतवाद। भारत में द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद तो अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे परन्तु अद्वैतवाद केवल उत्तुङ्ग विचार के रूप में विद्यमान था जिसे जीवन में व्यावहारिक रूप देना अत्यंत कठिन प्रतीत होता था। स्वामी विवेकानन्द ने इस सत्य का अनुभव किया कि युग को अद्वैतवाद के पूर्ण विकाश की आवश्यकता है। उनकी वाणी के निम्न उद्गार उनके दृढ़ संकल्प और तीव्र अनुभूति को इस प्रकार व्यक्त करते हैं; "अमूर्त अद्वैत को मानवता के लिये जीवित संदेश का रूप ग्रहण करना होगा; प्रेरणाहीन, जटिल पौराणिक साहित्य एवं केवल चकित कर देने वाले योग की अपेक्षा हमें स्वस्थ, कल्याणकारी नैतिकता तथा वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक मनोविज्ञान का विकाश करना होगा। हमें यह सारा कार्य अत्यन्त सरल,

स्वाभाविक एवं सजीव रूप में प्रस्तुत करना होगा जिसके मर्म को एक बालक भी ग्रहण कर सके; यही मेरे जीवन का मुख्य कार्य है।" अपने इस महत् कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली। अद्वैतवाद को व्यावहारिक एवं राष्ट्रीय दर्शन बनाने का श्रेय विवेकानन्द को ही है। उन्होंने भारतीय दर्शन में कोपरनिकन क्रान्ति लाकर इसे विश्व आकर्षण की वस्तु बना दिया किन्तु इसके साथ ही उन्होंने इस तथ्य को भी विस्मृत नहीं किया कि आध्यात्मिकता के विकास में तीनों अवस्थाएँ परस्पर संबद्ध हैं, कि एक अवस्था दूसरी अवस्था की ओर ले जाती है। उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया था जिसका उद्घोष उनके इस दार्शनिक वाक्य से होता है— "मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर यात्रा नहीं करता किन्तु निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर बढ़ता है।" विभिन्न दर्शन विभिन्न मार्ग हैं और प्रत्येक मार्ग सत्य है परन्तु लक्ष्य एक ही है— एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

वे कर्मठ दार्शनिक थे अतः उन्होंने आध्यात्मिकता का सम्बन्ध हमारी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं से जोड़ा संसार विमुख पलायनवादी सिद्धान्तों का उन्होंने विरोध किया और विश्व को कर्म-भूमि मानते हुए मानवीय मूल्यों को प्रश्रय दिया। उन्होंने भारतीय चिन्तन-धारा को एक नई दिशा प्रदान की और सर्वप्रथम इस सत्य की स्थापना की कि भौतिक अभ्युदय आध्यात्मिक विकास का विरोधी नहीं वरन् पूरक है। उनमें हम यथार्थवादिता और आदर्शवादिता का सुन्दर सामञ्जस्य पाते हैं। यदि एक

ओर उन्होंने समाज और देश के विकाश एवं कल्याण-पथ में अवरोधक स्वरूप धर्म के अवनतिमूलक, रुढ़िगत विश्वासों एवं परंपरागत आचार-नियमों पर तीव्र प्रहार किया तो दूसरी ओर वे अतीत की समस्त उपलब्धियों की उपेक्षा करते हुए कोरी मौलिकता के चक्कर में भी नहीं पड़े। भारतीय दार्शनिक परंपरा को तोड़ने में वे विश्वास नहीं करते थे। योग्य उत्तराधिकारी पैतृक संपत्ति की वृद्धि करता है, न कि उसका विध्वंस; इस कारण स्वामी जी ने प्राचीन दार्शनिक आधारसिला पर ही नवीन दर्शन रूपी प्रासाद का निर्माण कर राष्ट्र की सामयिक तथा मानवता की शाश्वत समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया। उनका दर्शन भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों का सुन्दर सन्तुलन है जो मानवता के आदर्शों का प्रतिपादन करता है। भारतीय दर्शन को पुनः स्वस्थ और सृजनात्मक अवस्था में लाने का अधिक श्रेय विवेकानन्द को ही प्राप्त है।

दार्शनिक विचारों से अनुस्यूत जिस धर्म का उन्होंने प्रतिपादन किया, उसे हम सार्वभौमिक धर्म की संज्ञा दे सकते हैं। उन्होंने सारी मानव जाति के लिए एक विश्व-धर्म की रूपरेखा प्रस्तुत की जो उनके सर्वधर्म समन्वय की विचारधारा की पोषक है। विश्व-धर्म से उनका तात्पर्य विश्व में केवल एक धर्म की स्थापना से नहीं था वरन् अनेकता में एकता का दर्शन करने से था— यही विचारधारा भारतीय संस्कृति की विश्व को एक अनूठी देन है। जो अपने में समस्त जगत को तथा संपूर्ण संसार में अपने को देखता है

वही यथार्थ रूप से धार्मिक पुरुष है। उनका निश्चित मत है कि सभी धर्म ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं; सभी धर्मों में सत्य है और सभी चढ़ाव के पथ पर सत्य रूपी पर्वत के शिखर की ओर ले जाते हैं जो हमारा गंतव्य है।

धर्म के बाह्यरूप में उलझ जाने से कल्याण या अन्तिम सत्य की उपलब्धि कभी भी संभव नहीं होती; धर्म की आत्मा तो ब्रह्मज्ञान या ईश्वर-साक्षात्कार है। विवेक धर्म का लक्षण तथा आनन्द उसका अन्तिम लक्ष्य है। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर स्वामी जी का धर्म सत्कर्म के अभ्यास और मानवसेवा में निहित दिखलाई पड़ता है। आध्यात्मिक समाजवादी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने दरिद्र को ईश्वर समझ कर उसकी सेवा करने का उपदेश दिया। उनके अनुसार दरिद्र के साथ सहानुभूति करना ईश्वर की स्तुति है पर उसकी आर्थिक सहायता करना भगवान की सच्ची पूजा है। हम दरिद्रों दीनों एवं दुखियों की सेवा द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इस उत्कृष्ट भावना की अभिव्यक्ति उन्होंने इस प्रकार की - "जगत् के कष्टों को दूर करने के लिये मैं सहस्र बार जन्म ग्रहण करने को तैयार हूँ। अपनी मुक्ति मैं नहीं चाहता; मैं प्रत्येक को मुक्त होने में सहायता करना चाहता हूँ।"

आज जगत् अत्यधिक मात्रा में उद्विग्न हो रहा है, मारने और अधिक अचूक मारने की मदोन्मत्त इच्छा ने विशाल सैनिक संगठनों एवं भयानक अस्त्र-शस्त्रों से पृथ्वी को पाट

दिया है। मृत्यु की इस विभीषिका के अन्तराल में चिरंतन मानव आज पतन और अंधकार का एक विकराल स्वप्न हो गया है जिस कारण मानवता के सभी प्रतीक और अभिव्यक्तियाँ आज स्वार्थ के लिये साधन मान ली गई हैं। परिणाम यह है कि जीवन का सर्वतोमुखी भाव आज हतप्रभ एवं अशक्त हो गया है। मानवता आज इतनी धनी होकर भी इतनी निर्बल, इतनी प्रतिभाशाली होकर भी इतनी अकिंचन पहले कभी नहीं थी। अतः प्राणीमात्र के योग-क्षेम और अभ्युदय के लिये इच्छाओं की स्वस्थ और सृजनशील अभिव्यक्ति हो सके, ऐसी मानव-सभ्यता का हमें निर्माण करना होगा। कामनाओं का उचित ढंग से भोग किया जा सके, सुखों का अधिक से अधिक प्रसार हो सके और जीवन का अथाह विश्वास एवं औदार्य बना रहे, ऐसी विचारधारा या जीवनप्रणाली की भूमंडल को वर्तमान में नितान्त आवश्यकता है। प्राणीमात्र पूर्ण रूपेण जी सके, स्वयं से परिचित होते हुए अपना परमत्व अनुभव कर सके, ऐसी जीवनपद्धति की आधारशिला रखने के लिये हमें स्वामी जी के जीवन, आदर्शों तथा साहसपूर्ण कार्यों से शिक्षा लेनी चाहिये। उनके कल्याणकारी विचारों एवं कार्यों के आधार पर ही हम आधुनिक भारत में सच्ची समाजवादी व्यवस्था की स्थापना कर सकते हैं।

—×—

विवेकानन्द के प्रति

[डा० प्रणव कुमार बनर्जी]

एक विस्तार
जो आसमान के समकक्ष हो,
एक गहराई
जो सागर के तुल्य हो,
एक घोष
जो वज्र का साज होता है,
तुममें थे।

दिशा के दिग्भ्रम,
युगों का मोह,
इतिहास की विस्मृति,
धर्मविरोह,
टूटे सब,
तुम्हारे स्पर्श मात्र से।

शत समारोह
तुम्हारी याद में होते हैं,
किंतु वे
तुम्हें छू नहीं पाते हैं,
तुम एक हो
समारोह शतशत
फिर भी।
क्योंकि—
तुम हो एक विस्तार
गहराई एक
आकाश के समकक्ष
सागर के तुल्य।

❀ ❀ ❀

"विवेकानन्द स्वामी".

श्री सुधाकर रामचन्द्र गोलवलकर

तेलुगु भाषा के कविसम्राट कवियुग्म तिरुपति-वेंकट (श्री दिवाकर्ल तिरुपति शास्त्री एवं चेल्लपिल्ल वेंकट शास्त्री) ने अपनी संयुक्त प्रतिभा, प्रकांड पांडित्य और स्वर साधना से कविता-गंगा को अपने भगीरथ प्रयत्न द्वारा सहस्रावधि सगर पुत्रों (तेलुगु भाषा-भाषी जनों) तक पहुँचाया। इन दोनों कवियों में कौन श्रेष्ठ था यह कहना असंभव था। चाहे दोनों कवियों में से कोई भी कविता करे पर वह प्रकाशित होती थी या प्रसिद्धि प्राप्त करती थी तिरुपति-वेंकट कवुलु या तिरुपति वेंकटेश्वर कवि के नाम से। दोनों ने शास्त्री ब्रह्मय्य जी के पास अध्ययन किया। सह अध्ययन ने ही इन दोनों को दो शरीर होते हुए भी एक प्राण बनाया। दोनों ने अपनी सूझ बूझ और अपने ज्ञान को गेय कविता के रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया। इनके शतावधान तथा अष्टावधान कविता-प्रवाह से जनता मंत्र मुग्ध हो जाती थी। इस लेख में मेरा अभिप्राय देश, धर्म और संस्कृति अटूट श्रद्धा रखने वाले इन विद्वद्द्वय की "विवेकानन्द स्वामी" नामक कविता की भावना से पाठकों को अवगत कराना है।

विवेकानन्द का जन्म कायस्थ कुल में हुआ था किन्तु उन्होंने संस्कृत ही नहीं, अंग्रेजी तथा विभिन्न भाषाओं का भी

अध्ययन किया था। उन्होंने क्या वैदिक धर्म, क्या अन्य धर्म सभी का गहन चिंतन एवं मनन किया था। इस ब्रह्मर्षि ने विदेशों में भ्रमण कर अद्वैत का प्रचार किया। बचपन से ही उनकी रुचि विश्व के क्षणभंगुर सुखों की ओर न थी। परलोक के बारे में वे सदा चिन्तन करते थे और इस जीवन में ऐसा कार्य करने का सोचते थे जिससे परलोक सुधर जाय। ऐहिक सुख के प्रति वीतरागी विवेकानन्द का विवरण निम्नलिखित पंक्तियों में देखिये —

दिरिगे नेव्वाडात्मदेशमोक्कटे काक
यरिवलम्मुलगुविषग्रमुलेल्ल,
निहमुनंगल्गु तुच्छमौनिश्चविडिचि
बाल्यमादिग परमुकै पाटु वडुट।

ऐसे व्यक्ति को जो ऐहिक लालसाओं से परे हो, जिसका योग ही विवेक हो, उसे विवेक योगी, मुक्त पुरुष या दिव्य-पद-प्राप्त कहना सार्थक है--

तक्क नेव्वाडेरुङ्गडितरमु सुन्त
आतडु विवेक योगि दिव्यपदभोगि ॥

सच्चे ज्ञानी के हृदय में कितना अदम्य उत्साह, ध्येय के प्रति निष्ठा तथा अपने विचारों के प्रकाशन में कितनी उत्कटता होती है वह देखने लायक होती है। धर्मों का साक्षात्कार होने के कारण विवेकानन्द विश्वको धर्मसभा में अन्य धर्मों के धुरन्धरों के सामने स्पष्ट घोषणा कर सके "आप सभी लोगों के धर्म कच्चे हैं।" कविद्वय की उक्ति में

विवेकानन्द विषयक गर्वोक्ति देखिये—

एवनिकि शक्यमौ ? मतमुलेल्ल विचारणसेयुनट्टि हू
णवरूलदेशमंदुन घनंबगुनट्टि सभा स्थलम्मुनं
"दर्यानिनि गल्गु मी मतमुलन्नियुलेत" लटंचु खंडनं
बु वोनरुपन स्वकीयमतमुन्निलुपंग, विवेकुदक्किकनन्॥

शंकराचार्य प्रभृति लोगों ने तो अपने देश में ही अपने मतों की विजय-घोषणा की, किन्तु विवेकानन्द एक ऐसे धीर योगी थे जिन्होंने विधर्मियों को अद्वैतवादी बनाया; ऐसे लोगों को अद्वैतवादी बनाया जो जड़वाद के भीषण भँवर में ऐहिक सुखों को ही जीवन का सर्वस्व मानते थे, जिन्होंने स्वप्न में भी पारलौकिक बातों के अस्तित्व पर चिंतन ही न किया था, जो केवल सांसारिक सुखों को प्राप्त करने में जीवन की इतिश्री मानते थे। तिरुपति-वेंकट के अनुसार ये हूण ही तो हैं— विवेक के संस्कारों से शून्य। ऐसे हूणों को (पाश्चात्यों को) ज्ञान देने वाला, उनका मार्गदर्शक बनने वाला और उन्हें ज्ञानी बनाने वाला कोई हुआ था तो वह 'विवेक-प्रभु' विवेकानन्द ही थे। इन्होंने ही असंख्यजनों का उद्धार कर उन्हें ज्ञानी बनाया, यथा—

इहमुनुकु दक्क बरमुनकिंचुकेनि
स्वप्नमुननैन यत्नम्मु सलुपनट्टि
हूणुलनु वेलकोलदि दानुद्धरिंचि
ज्ञानुलनु जेसे नी विवेक प्रभुंडु॥

तिरुपति-वेंकट कविद्वय की उक्ति अपने चरम पर तब

दिखाई देतो है जब उपाधिप्राप्त पाश्चात्य विद्वज्जनों को विवेकानन्द द्वारा "मीसाल वच्चिन बालुलार !" अर्थात मसों वाले मूछों बालों वाले बालको कहलवा कर संबोधित करवाया है। ऐसा कहने वाले व्यक्ति में सत्यनिष्ठा एवं हृदय की दृढ़ता जबरदस्त थी। इतना ही नहीं, वे सभा में तर्कशुद्ध प्रणाली से अपना मत इस आसानी से प्रतिपादित करते थे कि बिना वाद-विवाद के-"धर्म है तो बस एक अद्वैत ही"—ऐसी धारणा जन जन के उर में घर कर जाती थी। यही भावधारा निम्नलिखित पंक्तियों में प्रेक्षणीय है।

"मीसाल वच्चिन बालुलार !" यनि यम्मे प्यासु गार्विचि बल्
वासिं बोल्चेडिवारि ब्रिलित्र सभलो वादम्मु लेके युप
न्यासंबिच्चि 'मतम्मनंग नोक यद्वैतंब' यंचुन दगन्
दा सिद्धांतमु सेयु धन्यडतडेतन्मात्रुडे चूडगन् ॥

"धर्म है तो बस एक अद्वैत ही" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन क्या करते थे, मानों लोगों में अपने धारावाही भाषण से ऐसी भावना भर देते थे कि लोग भी इस निष्कर्ष पर असानी से आ जाते थे कि पूर्ण धर्म यदि है तो वह अद्वैत है और बाकी अधूरे हैं, कच्चे हैं। अपनी बात का प्रतिपादन अलग वस्तु होती है। पर अपने प्रतिपादन द्वारा श्रोताओं को खींचने और उन्हें निर्विवाद रूप से अपना समर्थक और अनुयायी बना देने की कला अगर किसी को साध्य थी तो वह सिद्ध पुरुष, असामान्य पुरुष विवेकयोगी विवेकानंद थे।

❀ ❀ ❀

गीता में कर्मयोग

स्वामी आत्मानन्द

(बुरहानपुर में दिये गये भाषण का सार)

कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि में युद्धोद्यत सेनाओं के समक्ष गीता का उद्‌गीरण हुआ। यह सर्वविदित है कि अर्जुन जब मोह में पड़कर अपना कर्त्तव्य भूल जाते हैं और अज्ञानवश एक ऐसी राह में जाना चाहते हैं, जो उनकी अपनी नहीं है, जो उनके स्वभाव के अनुरूप नहीं है, तब श्रीकृष्ण को गीता के रूप में उपदेश देने की आवश्यकता पड़ी। अतः गीता वह प्रेरणा है, जो विभ्रमित मानव को रास्ता दिखाती है, जो उसे उसके यथार्थ कर्म-पथ का स्मरण करा देती है।

गीता एक महासागर है। महासागर से रत्न निकालने के लिए गोते लगाने पड़ते हैं। न मालूम कितने अमूल्य रत्न उसकी अथाह गहराई में छिपे रहते हैं। कोई चाहे कितना भी कुशल गोताखोर क्यों न हो, रत्नाकर के समस्त रत्नों को एक साथ नहीं निकाल सकता। गीता के अभिनव विचाररूपी सकल रत्न भी उसी प्रकार किसी एक मानव की पकड़ से बाहर हैं। गीता के रत्नों को पाने के लिए उसमें गोता लगाना पड़ता है, उसकी अथाह गहराइयों में पैठना होता है। यही कारण है कि भारत में भाष्यों और टीकाओं

की परम्परा निकल पड़ी। भिन्न-भिन्न मतों के जितने भी प्रवर्तक हो गये हैं, उन सबने भारत के आध्यात्मिक साहित्य 'प्रस्थान-त्रय' पर अपने-अपने भाष्य लिखे हैं और यह बताने का प्रयास किया है कि उन धार्मिक ग्रन्थों द्वारा उनके ही मत की विशेष पुष्टि हुई है। गीता प्रस्थान-त्रय में से एक प्रस्थान है और विश्व के आध्यात्मिक साहित्य में उसका स्थान अद्वितीय है---

गीता के महात्म्य पर एक सुन्दर सा श्लोक है जिसमें बताया गया है कि गीता समस्त उपनिषदों का निचोड़ है। कहते हैं —

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधोर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात् सारे उपनिषद् गाय हैं और उन गायों का दुहनेवाला गोपालनन्दन कृष्ण है। पर दुहनेवाला अपने काम में कितना भी कुशल क्यों न हो, जबतक गाय नहीं पन्हाती तब तक वह उसके थनों से दूध नहीं निकाल सकता। उपनिषद् रूपी गायों को भी बिना पन्हाए कृष्ण कैसे दुह सकते थे? इसीलिए बछड़े को सामने ला दिया गया। वह बछड़ा कौन था? पार्थ अर्जुन। अब जो दूध निकला वह यही महान् गीतामृत था। इसका पान सुधीजन ही किया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि उपनिषदों के आधार पर गीता का विशाल भवन खड़ा है। गीता हमें ज्ञान के आधार पर संसार

में खड़े रहने का मार्ग बताती है। जब हम जीवन की भूल-मुलैया में भटक जाते हैं, उस समय वह मार्ग प्रदर्शक बनकर आती है। जब हम आलस्य से अकर्मण्य बन जाते हैं, अथवा, किसीप्रकार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अपने कर्त्तव्य कर्मों को छोड़कर दूर भाग जाना चाहते हैं, तब वह कर्म की प्रेरणा लेकर हमारे सामने उपस्थित होती है। इसीलिए गीता को योग शास्त्र कहा है। योगशास्त्र का तात्पर्य उस आध्यात्मिकता से है जो केवलमात्र सैद्धान्तिक न हो प्रत्युत् जो जीवन में गतिशील हो सके, व्यावहारिक बन सके। कई लोगों का मत है कि जो घर-बार छोड़कर संन्यासी बनना चाहते हैं उन्हीं के लिए गीता पठनीय है, गृहस्थों के लिए नहीं। पता नहीं यह तर्क सर्वप्रथम किसने उपस्थित किया था। जिसने भी किया हो, उसने गीता का अध्ययन नहीं किया है, इसप्रकार निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। यदि गीता का उद्देश्य वही होता, तब क्यों कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित करते? अर्जुन के मन में वैराग्य की भावना आई-सी मालूम पड़ती है। वे हाथ के कार्य को छोड़कर कहीं दूर जंगल में चले जाना चाहते हैं और युद्ध के बदले भिक्षावृत्ति अपनाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में कृष्ण उन्हें उत्साह प्रदान करते, उनका हौसला बढ़ाते। पर ऐसा तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता, उल्टे उलाहना के स्वर में वे अर्जुन से कहते हैं– ऐसे विषम समय में यह कायरता क्यों? वे अर्जुन को तरह तरह से युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं। उनकी जो मुख्य सीख है वह कुछ इस प्रकार है—

"मनुष्य को अपने कर्त्तव्य से नहीं डिगना चाहिए। कुछ परिस्थितियों के कारण यदि कोई व्यक्ति सहसा अपनी मनोवृत्ति को दूसरी दिशा में मोड़ने लगता हो तो समझना चाहिए कि वह अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म नहीं कर रहा है। इसप्रकार का कर्म ही परधर्म कहलाता है। मनुष्य यदि निष्ठा के साथ अपने कर्म में लगा रहे तो धीरे-धीरे उसे आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती जाती है। कोई भी कर्म अपने आप में नीचा या ऊँचा नहीं है, मनुष्य की दृष्टि ही कर्म को निम्न या उच्च बना देती है। हो सकता है, कोई कर्म बाहरी रूप से श्रेष्ठ दिखे, पर यदि उस कर्म का करने वाला निम्न और विपरीत भावों से भरा हो तो वह कर्म उस व्यक्ति के संदर्भ में कभी भी उच्च नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, हो सकता है कि कोई कर्म ऊपर से घृणास्पद मालूम पड़ता हो, पर यदि कर्ता का मनोभाव उच्च कोटि का है तो वह कर्म श्रेष्ठ बन जाता है, भगवान की पूजा का अंग बन जाता है, गीता की भाषा में कहें तो वह एक यज्ञ बन जाता है।"

गीता की शिक्षा का निचोड़ यह है कि प्रत्येक कर्म को यज्ञस्वरूप बना लो। जिसप्रकार यज्ञ के लिए वेदी की आवश्यकता होती है, हवन कुण्ड का प्रयोजन होता है, उसमें आहुतियाँ देनी पड़ती हैं, इसप्रकार का कुछ भी इस कर्म-यज्ञ में नहीं करना पड़ता। इसमें तो कर्त्ता का शरीर ही मानों वेदी है, ईश्वर का स्मरण ही हवन कुण्ड है, और समर्पण-भाव ही आहुतियाँ है। जब हम ईश्वर को समर्पित करते हुए जीवन के कर्मों को करते हैं तो वे कर्म हमें बाँध नहीं

पाते—"ब्रह्मणि आधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः, लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रं इव अम्भसा।" हमारी स्थिति जल में रहनेवाले कमल के पत्ते के समान हो जाती है। कमल का पत्ता जल में रहता तो है पर उससे लिप्त नहीं होता, उसीप्रकार हम संसार में रहते तो हैं पर उससे लिप्त नहीं हो पाते। यह गीता की सबसे बड़ी सीख है। यही गीता का कर्मयोग है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत् शृणु॥
यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अर्थात्, अपने-अपने कर्मों में लगे रहकर मनुष्य संसिद्धि को पा लेता है। कैसे पा लेता है?— यह तू मुझसे सुन। जिस परमात्मा से समस्त चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसकी अपने कर्मों द्वारा पूजा करते हुए मनुष्य सिद्धि को पा लेता है।

बड़ी अद्भुत बात कह दी श्रीकृष्ण ने। कर्मों से पूजा करने को वे कहते हैं। हमने धूप-चंदन, फल-फूल आदि से ईश्वर की पूजा करने की बात सुनी थी, पर गीता में हम एक नई बात सुनते हैं-- अपने कर्मों से भगवान् की पूजा करनी चाहिये।

यह कर्मों द्वारा पूजा किस प्रकार होती है? उसका क्या तात्पर्य है? यही कि कर्म तो किये जाओ पर उसके

फल को भगवत्-समर्पित कर दो। इससे कर्मों में स्वाभाविक रूप से रहने वाले दोष कर्त्ता को व्याप नहीं पाते। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि चोर चोरी करे और पाप मुक्त होने के लिए सोचे कि मैं इसका फलाफल ईश्वर को समर्पित करता हूँ, दुराचारी व्यक्ति दुष्कर्म करे और ईश्वर-समर्पण की आड़ ले ले। नहीं, गीता का तात्पर्य वह नहीं है। वह अवश्य मनुष्य को कर्मों का फलाफल ईश्वर के चरणों में सौंप देने के लिए कहती है पर साथ ही यह भी बता देती है कि कर्म के अन्य रूप भी होते हैं जिनसे हमें बचकर चलना पड़ता है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।

कृष्ण कहते हैं, "अर्जुन! कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस सम्बन्ध में तत्त्वज्ञ मुनि भी कुछ ठीक से नहीं कह पाते, इसलिए मैं तेरे सामने कर्म की चर्चा करूँगा जिसके तत्त्व को जानकर तू अशुभ से तर जाएगा। हे पार्थ कर्म क्या है यह जान लेना चाहिए। विकर्म और अकर्म किसे कहते हैं, यह भी समझ लेना चाहिए क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है।"

सचमुच कर्म का रहस्य दुर्बोध-सा मालूम पड़ता है। कृष्ण कर्म के तीन रूप बताते हैं—(१) कर्म (२) विकर्म और (३) अकर्म। विकर्म विपरीत कर्म को कहते हैं-ऐसे कर्म

जो शास्त्रनिषिद्ध हैं, जिनको समाज बुरी निगाह से देखता है। अकर्म जड़ता या आलस्य को कहते हैं। कर्म करते समय हमें उसके इन दो रूपों से बचना पड़ता है— हम आलसी भी न बनें और मर्यादा का भी उल्लंघन न करें। विकर्म और अकर्म से अपने को बचाते हुए जीवन के कर्त्तव्य-कर्मों को करना उनका फलाफल भगवान् पर छोड़ देना— यही गीता का कर्मयोग है। इसी को कर्म की कुशलता कहते हैं। गीता इसी को योग कहती है — "योगः कर्मसु कौशलम्।"

कई लोग इसकी बड़ी विचित्र व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि यदि मनुष्य अपना काम बड़ी कुशलता से कर ले तो वह योगी कहलाने के लायक है। तब तो तात्पर्य यह हुआ कि यदि सुनार बड़ी कुशलता से अपना कार्य करता हो तो वह योगी है; दुकानदार बड़ी कुशलता से अपनी दुकान का काम करता हो तो वह योगी है; न उसी प्रकार यदि एक पाकेटमार बड़ी कुशलता से अपना काम कर लेता हो तो वह भी योगी हो गया! पर क्या कभी हम ऐसे तर्क को स्वीकार कर सकते हैं? नहीं। तब फिर कर्म की कुशलता का क्या मतलब हुआ?

श्रीरामकृष्ण उदाहरण देते हैं—शहद का एक छत्ता है। उसमें से हम शहद निकालना चाहते हैं। हमें कुशल कब कहा जाएगा? तब, जब हम शहद इस प्रकार निकालें कि हमें मधुमक्खियाँ काट न खाएँ। इसी प्रकार, कर्म की कुशलता तब होती है जब कर्म तो किए जाएँ पर कर्म का बन्धन कर्त्ता पर न लग सके।

पर यह सधे किस प्रकार? सुनो, श्रीरामकृष्ण क्या कहते हैं? "बड़े घर की दासी के समान रहो।" यही उपाय है। बड़े घर की दासी बाबू का सारा काम-काज करती है। बाबू के बच्चे को नहलाती है, सँवारती है, भोजन कराती है, घुमाने ले जाती है, "मेरा राजा बेटा" कहकर दुलार करती है। यदि बाबू का बच्चा कहीं पर गिर पड़े, तो दासी 'मेरा लल्ला', 'मेरा मुन्ना' कहती हुई दौड़ पड़ती है, बच्चे को उठा लेती है, उसे पुचकारती और प्यार करती है। पर वह अपने मन में यह खूब जानती है कि बाबू जिस दिन नोटिस दे देंगे, उस दिन से वह घर की दहलीज पर भी पैर नहीं रख सकेगी। जिसे आज 'मेरा लल्ला' 'मेरा मुन्ना' कह कर गोद में उठाती है, उसे तब छू भी नहीं सकेगी। वह यह खूब जानती है कि उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा वह नहीं है। वह यह अपने मन में खूब जानती है कि उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा झोपड़ी में पड़ा रो रहा होगा। तो क्या अपने बाबू के बच्चे के प्रति दासी यह जो प्रेम प्रदर्शित करती है, वह सब दिखावा है? नहीं, वह दिखावा नहीं है। दासी सचमुच बच्चे को प्यार करती है। पर उस प्यार में आसक्ति नहीं है। आसक्ति न होने का कारण यह है कि उसमें बच्चे के प्रति मेरापन नहीं है, ममत्व नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि ममत्व, मेरा-पन या आसक्ति के बिना भी प्रेम सम्भव है, और वही यथार्थ प्रेम होता है। आसक्तिविरहित प्रेम ही हमें कर्म के विष से बचाने की शक्ति रखता है।

इसीलिए श्रीरामकृष्ण उपाय बताते हैं — "बड़े घर की दासी की तरह रहो।" घर-गृहस्थी है, स्त्री-पुत्र-कलत्र हैं— कोई दोष नहीं। सोचो कि वे सब भगवान् के दिये हैं, अतएव भगवान के हैं। सबको अपना कहो, प्रेम दिखाओ सबके प्रति। पत्नी को 'मेरी प्रिये' कहो, पति को 'मेरे प्रियतम' कहो, बच्चों को 'मेरे लाले' 'मेरी मुन्नी' कहो— कोई दोष नहीं, पर हृदय के अन्तरतम प्रदेश में यह जानो कि वास्तव में इनमें से कोई भी मेरा नहीं है, सब भगवान् के हैं। जिस दिन भगवान् का नोटिस आयेगा, कोई मेरा न रह जायेगा, सब मुझे छोड़कर चले जायेंगे या मैं ही सबको छोड़कर चला जाऊँगा। वास्तव में यदि कोई मेरा अपना है, तो वे हैं ईश्वर। यदि कोई मेरी झोपड़ी है, तो वह है प्रभु के चरण। यह ज्ञानदीप भीतर जलाये रखो। यही संसार में रहने का रहस्य है। यही 'बड़े घर की दासी के समान' संसार में रहना है। मन पर इस विचारधारा का बारम्बार संस्कार डालना ही कर्मयोग का अभ्यास कहलाता है।

जब यह अभ्यास सध जाता है, तब सब कुछ ईश्वरमय हो जाता है। किसी प्रियजन की मृत्यु हो गयी- वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि किसी कार्य में सफलता मिली तो वह ईश्वर की इच्छा है। यदि कोई कार्य न सधा तो वह भी ईश्वर की इच्छा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐसे कर्मयोग से साधक निश्चेष्ट हो जाय, आलसी बन जाय, अकर्मण्य होकर कहने लगे कि प्रयत्न से क्या होगा, सब कुछ तो ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। प्रत्युत, इसका अर्थ यह है कि

साधक क्रियाशील बने, प्रबल कर्मपरायण हो। यदि कोई मृत्यु की शय्या पर पड़ा हो, तो उसे बचाने के लिए अथक प्रयत्न करे और अगर न बचा सके तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। कार्य की सिद्धि के लिए जी-तोड़ परिश्रम करे, पर यदि सफलकाम न हो तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। यही रसायन है. जो कर्म-विष को चूस लेता है। हम अपना सारा उत्तरदायित्व ईश्वर पर सौंप देते हैं। इसीलिए हमें दुख नहीं व्यापता। मुनीम साहूकार के व्यापार को चमकाने की अथक चेष्टा करता है। यदि साहूकार को घाटा आ गया, तो मुनीम दुखित तो अवश्य होता है पर घाटे का दुख उसे व्याप नहीं पाता, क्योंकि घाटा या लाभ उसका नहीं है, वह साहूकार का है। उसी प्रकार, संसार मेरा नहीं, ईश्वर का है; परिवार मेरा नहीं, ईश्वर का है; मैं तो एक मुनीम हूँ, भृत्य हूँ। यह कर्मयोगी की भाषा है।

गीता का कर्मयोग हमें यही पाठ पढ़ाता है।

❀ ❀ ❀

> उनसे मत डरो जो तुम्हारे शरीर को नष्ट कर सकते हैं किन्तु आत्मा को नहीं; बल्कि उससे डरो जो तुम्हारे शरीर और आत्मा दोनों ही को नर्क में डाल सकता है। —प्रभु ईसा

क्या यह जगत् असत् है ?

राय साहब हीरालाल वर्मा

इसके पहिले कि इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय, 'असत्' शब्द का अर्थ भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है। यदि 'सत्य' शब्द का यह आशय है कि सृष्टि के जो पदार्थ हमारी इन्द्रियों के गोचर हैं, वे वस्तुतः हैं या नहीं ? तो—आधिभौतिक दृष्टि से तो वे अवश्य हैं। सांख्यशास्त्र प्रकृति को एक स्वतंत्र और नित्य तत्त्व मानता है। उसके अनुसार व्यक्त सृष्टि से परे अव्यक्त, सूक्ष्म, इन्द्रियों की अगोचर मूल प्रकृति होती है, जो केवल सत्व-रज-तम गुणमयी होती है। शुरू में ये तीनों गुण समान अवस्था में रहते हैं। लेकिन बाद में उनमें न्यूनाधिकता होने के कारण व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है। वेदान्तियों के मतानुसार सांख्यों की मूल प्रकृति से भी परे एक अव्यक्त अमृत तत्त्व है, जो इस सृष्टि का मूल है। जो जगत् आँखों से देख पड़ता है, वह केवल नाम-रूपात्मक और नाशवान् है। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से मायिक अथवा मिथ्या है।

हर एक धर्म की पुस्तकों में अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सृष्टि की रचना का विधान बतलाया है। इसाइयों की बाइबिल में ईश्वर को जगत् का निमित्त और उपादान कारण दोनों माना है। "ओल्डटेस्टामेन्ट" की प्रथम पुस्तक 'जेनेसिस'

में बतलाया है कि "शुरू में परमेश्वर ने आकाश और पृथ्वी को रचा—और पृथ्वी बेरूप और शून्य थी। गहरात्र के ऊपर अँधेरा था और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था। फिर ईश्वर ने कहा कि 'उजेला हो' सो हो गया और ईश्वर ने देखा कि वह उजेला अच्छा था। इसी तरह ईश्वर ने उजियाले को अँधियारे से पृथक् करके दिन और रात बनाये। फिर पानी को एक जगह जमा करके सूखी धरती बनाई और उसका नाम पृथ्वी रखा। फिर पृथ्वी को आज्ञा दी कि वह घास, वृक्ष, बीजवाली वनस्पति बनाये और वे बने। फिर जीव-जन्तु बनाये और अन्त में मनुष्यों को अपनी ही आकृति में बनाया।" यह सब सृष्टि छः दिन में बनी। पश्चिमी देशों में जहाँ 'साइन्स' ने बहुत उन्नति की है, बाइबिल के उल्लिखित 'सृष्टि-विधान' में अब श्रद्धा नहीं रही। वहाँ के प्रकृतिशास्त्र के अनुसार प्रकृति का आरम्भ परमाणुओं से हुआ है। उन्हीं के संयोग से जड़पदार्थ बने; फिर मूल पदार्थों के गुणों के विकाश से धीरे-धीरे सारी सृष्टि की रचना हुई। लेकिन आधुनिक पदार्थ-शास्त्रज्ञों की खोज से मालूम हुआ है कि परमाणु, जैसा पहिले समझा जाता था, अविभाज्य नहीं है। बल्कि उनके अन्दर विद्युत-शक्ति है। इसी तरह डार्विन के उत्क्रान्ति वाद (याने वृक्षों से पशु, पशुओं से बन्दर और बन्दरों से धीरे धीरे मनुष्यों का बनना) में भी अब श्रद्धा नहीं रही। पश्चिमी देशों के शास्त्रज्ञों का अनुमान है कि शुरू में सारे ब्रह्माण्ड में एक पतला सूक्ष्म द्रव्य फैला हुआ था। उस वक्त न

सौरमण्डल था, न चन्द्र और न तारे। बाद को कहीं कहीं वह द्रव्य गाढ़ा हो गया, जिसके कारण उन गाढ़े केन्द्रों के बाहर का द्रव्य और भी पतला हो गया। इस तरह से समानता के भंग होने से गाढ़े केन्द्रों में घुमाव पैदा हो गया, यहाँ तक कि थोड़े समय बाद प्रत्येक केन्द्र एक गोला रूप हो गया, जो अपनी धुरी के चहुँओर बड़ी तीव्रता से गति करने लगा और जिससे अत्यन्त उष्णता पैदा होने लगी। इस भयंकर गति से प्रत्येक गोले में से कुछ टुकड़े निकलकर चक्राकार भ्रमण करने लगे, जैसे कि शनि के चहुँ-ओर अभी भी घेरे हैं। इनमें से कुछ टुकड़े गोलाकार होकर पृथ्वी रूप हो गये और अपनी अक्षरेखा पर घूमते हुए अपने सूर्य के आसपास घूमने लगे। इनमें से बड़ी बड़ी पृथ्वी ने अपने में से कुछ टुकड़े फेंके, जो चन्द्र रूप होकर उन पृथ्वियों के चहुँओर घूमने लगे। इस क्रम से सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रों की उत्पत्ति हुई। इनमें से कुछ काल बाद किसी किसी गोले की गर्मी इतनी कम हो गयी कि उनमें वनस्पति, पशु, पक्षी और मनुष्यों की पैदायश होने लगी। आधुनिक 'साइन्स' की यह खोज बाइबिल के दिये हुए सृष्टिक्रम से ज्यादा न्यायसंगत भले ही प्रतीत हो; लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ मालूम पड़ती हैं। पहिला प्रश्न तो यह है कि शुरू में जो द्रव्य-पदार्थ सब जगह एक समान विस्तृत था, उसमें गाढ़े केन्द्र किस कारण आप से आप पैदा हुए? फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि Laws of Motion (गमन सिद्धान्त) के अनुसार एक गोला

दूसरे के चारों ओर एक किसी खास राशिचक्र पर और खास किसी वेग से ही चलेगा, तो इस गति के कानून को किसने बनाया ? फिर जड़ द्रव्य-पदार्थ से जीव कैसे उत्पन्न हुए ? और सबसे विचित्र बात जिसका कोई संतोष जनक उत्तर 'साइन्स' अभी तक नहीं दे सका है, वह यह है कि मनुष्य में ज्ञानशक्ति कहाँ से आई ? इन बातों पर विचार करते हुए पश्चिमी विद्वान् भी मानने लगे हैं कि जगत् का रचयिता कोई ज्ञानवान् सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही होना चाहिये ।

बाइबिल-काल के पहिले लोगों के सृष्टि सम्बन्धी विचार अधूरे और कच्चे थे । बहुतों का विचार था कि शुरू में पानी ही पानी था । किसी के मत में आरम्भिक काल में हवा अथवा अग्नि थी । बाद को यह खयाल हुआ कि पहिले कोई 'स्थान' होना चाहिये, जिस पर जल रहे; अथवा आकाश या फैलाव होना चाहिये जहाँ हवा चले या अग्नि जले । फिर यह विचार होने लगा कि आकाश का बनानेवाला भी तो कोई होना चाहिये । इस प्रकार पहिले देवताओं की और बाद में साकार अथवा निराकार ब्रह्म की कल्पना शुरू हुई । फिर जब यह सोचा कि ब्रह्म कहाँ से आया, तो किसी ने कहा शून्य से; किसी ने कहा कि शून्य से अण्डा निकला और उससे सृष्टि उत्पन्न हुई । बाद में यह निश्चय हुआ कि सनातन ब्रह्म नित्य है और उसके पहिले कुछ नहीं था । अब प्रश्न यह खड़ा हुआ कि ब्रह्म ने जगत् को कैसे रचा ?

तैत्तिरीयोपनिषद् की दूसरी वल्ली के छठे अनुवाक में

बतलाया है कि शुरू में "परमात्मा ने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ। अतः उसने तप किया और तप करके ही, यह जो कुछ है इस सब की रचना की; और इसे रचकर वह इसी में अनुप्रविष्ट हो गया और अनुप्रवेश कर वह सत्य-स्वरूप परमात्मा मूर्त, अमूर्त, कहे जाने योग्य और न कहे जाने योग्य, आश्रय, अनाश्रय, चेतन, अचेतन एवं व्यावहारिक सत्य, असत्य रूप हो गया। यह जो कुछ है, उसे ब्रह्मवेत्ता लोग 'सत्य' नाम से पुकारते हैं।"

बृहदारण्यकोपनिषद् में (१।४।४) बतलाया है कि आत्मा पहिले मनुष्य के रूप में था, फिर अकेले होने के कारण उसे भय उत्पन्न हुआ। फिर अपने आधे अंग से उसने स्त्री पैदा की और स्त्री के एवं अपने रूपान्तर से हर प्रकार की योनियों में स्त्री-पुरुष भेद पैदा किया।

ऐतरेयोपनिषद् के पहिले अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई है:—"पहिले यह जगत् एकमात्र आत्मा ही था। उसके सिवा और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी। उसने यह सोचा कि लोकों की रचना करूँ। इस प्रकार ईक्षण यानी आलोचना करके उसने अम्भ, मरीचि, मर और आप, इन लोकों की रचना की जो द्युलोक से परे हैं। स्वर्ग जिसकी प्रतिष्ठा है, वह अम्भ है; अन्तरिक्ष मरीचि है, पृथ्वी मरलोक है और जो नीचे है, वह आप है। सम्पूर्ण प्राणियों के कर्म-फल रूप उपादान के अधिष्ठानभूत चारों लोकों की रचना कर उसने विचार किया कि ये लोक तो तैयार हो गये, अब लोकपालों की रचना करूँ—ऐसा सोचकर उसने जल में से

एक पुरुष निकालकर अवयवयुक्त किया,—उस विराट् पुरुष के उद्देश्य से ईश्वर ने संकल्प किया। उस संकल्प किये पिण्ड से अण्डे के समान मुख उत्पन्न हुआ। मुख से वाक् और वागिन्द्रिय से अग्नि का जन्म हुआ, फिर नासिकारन्ध्र प्रकट हुए, नासिकारन्ध्र से प्राण हुआ, और प्राण से वायु। इसी प्रकार नेत्र प्रकट हुए, तथा नेत्रों से चक्षु-इन्द्रिय, और चक्षु से आदित्य उत्पन्न हुआ, फिर कान उत्पन्न हुये, तथा कानों से श्रोतेन्द्रिय और श्रोतों से दिशाएँ प्रकट हुईं। तदनन्तर त्वचा प्रकट हुई तथा त्वचा से लोम और लोम से ओषधि एवं वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। इसी प्रकार हृदय उत्पन्न हुआ तथा हृदय से मन और मन से चन्द्रमा प्रकट हुआ। फिर नाभि उत्पन्न हुई तथा नाभि से अपान और अपान से मृत्यु की अभि व्यक्ति हुई। तदनन्तर शिश्न प्रकट हुआ, तथा शिश्न से रेतस और रेतस से आप उत्पन्न हुआ।"

ऊपर बतला चुके हैं कि तैत्तिरीयोपनिषद् से यह सारांश निकलता है कि जो कुछ इस सृष्टि में है, वह परमात्मा का बनाया हुआ है और परमात्मा उसी में व्यापक है। इसी उपनिषद् की द्वितीयवल्ली के प्रथम अनुवाक में सृष्टि क्रम इस तरह बतलाया गया है :—

"ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। जो पुरुष उसे बुद्धि-रूप परम आकाश में निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूप से एक साथ ही सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है। उस, इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वाय, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ,-

ओषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ।"

यही क्रम आजकल सर्वमान्य है, क्योंकि पहिले आकाश का होना जरूरी है और उसके गुणों में 'शब्द' प्रमुख है। जो 'शब्द' गुणवाला और समस्त मूर्त पदार्थों को अवकाश देने वाला है, उसे आकाश कहते हैं। उस आकाश से अपने गुण 'स्पर्श' और अपने पूर्ववर्ती आकाश के गुण 'शब्द' से युक्त, दो गुणवाला वायु उत्पन्न हुआ। वायु से अपने गुण 'रूप' और पहिले दो गुणों के सहित तीन गुणवाला अग्नि उत्पन्न हुआ। अग्नि से अपने गुण 'रस' और पहिले तीन गुणों के सहित चार गुणवाला जल हुआ। और जल से अपने गुण 'गन्ध' और पहिले चार गुणों के सहित पाँच गुणोंवाली पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी से वनस्पतियाँ और इनसे अन्न, तथा वीर्यरूप में परिणत हुए अन्न से प्राणी उत्पन्न हुए।

वेदान्त के ग्रन्थों में बतलाया है कि ऊपर बतलाए हुए पाँच महाभूतों के मिश्रण से, जिसको पंचीकरण की संज्ञा दी गई है, नाना प्रकार के पदार्थ बने।

शुकोक्ति सुधासागर के द्वितीय स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में सृष्टि वर्णन इसप्रकार किया गया है:—"निर्गुण, निराकार ईश्वर अपने 'उत्पत्ति, पालन और संहार' इन तीन कार्यों के लिए माया के सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों को ग्रहणकर सगुण हुआ। 'मैं बहुरूप धारण करूँ' इस कार्य के लिए उसने अपनी इच्छारूपिणी माया द्वारा अपने में काल, कर्म और स्वभाव को प्रकट किया। फिर काल द्वारा मायास्थित

तीनों गुण क्षोभ को प्राप्त होकर, स्वभाव द्वारा परिणाम में आनीत होकर एवं कर्म द्वारा सम्मिलन भाव में प्रकाशित होकर 'महत्तत्त्व' नाम को प्राप्त हुए। महत्तत्त्व जब विकार को प्राप्त हुआ, तब उसके भीतर स्थित रजोगुण और तमोगुण मिश्रित होकर, मायास्थित द्रव्य (पंचतत्त्व) ज्ञान और क्रिया आदि, एक तमोगुण प्रधान अवस्था को प्राप्त हुए। इस तमोगुणप्रधान अवस्था को अहंकार कहते हैं। तामस अहंकार ने रूपान्तर को प्राप्त होकर प्रथम आकाश को प्रकट किया। इस आकाश की मात्रा और गुण को ही 'शब्द' कहते हैं। यह 'शब्द' ही जगत् का द्रष्टा और दृश्य का बोधक है। आकाश का रूपान्तर होने पर 'स्पर्श' गुण युक्त वायु उत्पन्न हुआ। यह वायु ही विश्व को प्राण, ओज, बल और इन्द्रिय-स्फूर्ति देने वाला है। काल, कर्म और स्वभाव द्वारा रूपान्तर को प्राप्त होने पर वायु से तेज प्रकट हुआ। तेज से जल और जल से पृथ्वी तत्त्व उत्पन्न हुआ।

"सात्त्विक अहंकार से मन और तैजस अहंकार से बुद्धि, प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। असम्मिलित अवस्था में ये तत्त्व, इन्द्रियाँ, मन, गुण आदि जब कोई शरीर न बना सके, तब भगवान् की शक्ति द्वारा प्रेरित होकर ये कारणसमूह एकत्रित हुए और अपने प्रधान गुण-भाव से समष्टि (सूक्ष्म) एवं व्यष्टि (स्थूल) रूप उभयात्मक शरीर को उत्पन्न किया।"

विद्यारण्य स्वामी की पंचदशी में बतलाया है कि चूँकि प्रकृति तीनों गुणों की बनी हुई है, इसलिये उससे उत्पन्न होने वाले पंचमहाभूत भी इन्हीं गुणों से युक्त रहते हैं।

इनमें से आकाश के सत्त्व भाग से कान और शब्द; वायु के सत्त्व भाग से त्वचा और स्पर्श;तेज से चक्षु और रूप; जल से जिह्वा और स्वाद या रस; पृथ्वी से नाक और गंध उत्पन्न हुए—याने प्रत्येक भूत से एक एक ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न हुई और पाँचों भूतों के सामूहिक सत्त्वभाग से अन्तःकरण पैदा हुआ। अन्तःकरण के संशयात्मक भाव को मन और निश्चयात्मक भाव को बुद्धि कहते हैं। भूतों के रजस भाग से पाँचों कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। जैसे आकाश से वाणी, वायु से हाथ, तेज से पाँव, जल से गुदा और पृथ्वी से जननेन्द्रियाँ। इन पाँचों भूतों के सामूहिक रज भाग से पंच प्राण याने प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान उत्पन्न हुए। इन पाँचों तत्त्वों के तमोगुण अंश से स्थूल देह पैदा होती है। पंच प्राणों में से जो श्वास नासिका और मुख में चलता है, उसे प्राण कहते हैं। जो भोजन को नीचे पक्वाशय में ले जाकर मल बाहर गिराता है, उसे अपान कहते हैं। जो भोजन को पचाकर देह का अंश बनाता है, उसे समान कहते हैं। जिसके कारण विविध अंग गतिशील होते हैं, उसे व्यान और मरने पर जो श्वास जीवात्मा के साथ बाहर निकलता है, उसे उदान कहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय,पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण,मन और बुद्धि इन सतरह तत्त्वों के समूह को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। शरीर के अन्दर जो चेतन शक्ति रहती है, वह जीवात्मा कहलाता है। यह कोई अलग वस्तु नहीं है, वरन् अन्तःकरण में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी का नाम जीवात्मा है। शरीर के पाँच कोश बतलाये गये हैं। स्थूल शरीर जो अन्न

से उत्पन्न होता और जीवित रहता है, 'अन्नमय कोश' कहलाता है। उसके भीतर 'प्राणमय कोश' होता है, जो पंच प्राण और पाँच कर्मेन्द्रियों का बना हुआ होता है। इस कोश के भीतर 'मनोमय-कोश' रहता है, जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन से बनता है। उसके भीतर 'विज्ञान मय कोश' जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि का समुदाय है। इसके भी भीतर 'आनन्दमय कोश' होता है। यह कोश अन्तःकरण की उस अवस्था का नाम है, जब वह अन्तर्मुख होकर आत्मा का पूर्ण आनन्द लेता है। ये पाँचों कोश परस्पर एक दूसरेमें प्रविष्ट और संलग्न रहते हैं और आत्मा उन सबमें व्यापक परन्तु असंग रहता है। जाग्रत् अवस्था में जीवात्मा स्थूल शरीर अथवा अन्नमय कोश से सम्बन्ध रखता है। लेकिन स्वप्नावस्था में इन्द्रियों से नाता छोड़कर, मनोमय कोश से काम लेता है और सुषुप्ति अवस्था में विज्ञानमय कोश से। याने जब वह एक किसी अवस्था में विद्यमान होता है, तो दूसरी अवस्थाओं से नाता तोड़ लेता है। तात्पर्य यह कि असल में वह हर एक अवस्था का साक्षी मात्र रहकर उनसे असंग रहता है। इस तरह पाँचों कोश और जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के अन्वय व्यतिरेक करने से यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा कोशों से ढका हुआ भी उनका आधार मात्र होकर उनके विकारों से अलग रहता है। मनुष्य शरीर का विवरण यहाँ इस कारण किया गया कि जगत के चेतन पदार्थों में उसकी बहुतायत से गिनती है और अहंता के कारण उसका वास्तविक जड़ स्वरूप बहुधा विचार में नहीं रहता। तुलसीकृत रामायण में श्रीरामचन्द्र जी को बालि के

मरने के बाद उसकी स्त्री तारा को समझाना पड़ा था—

क्षिति जल पावक गगन समीरा, पंचरचित यह अधम शरीरा
प्रगट सो तनु तब आगे सोवा, जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा

ऊपर के विवेचन से मालूम होगा कि दृश्य जगत् सांख्य-मत के अनुसार सूक्ष्म प्रकृति तत्त्व का विस्तार है और अद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म का मायिक विकास है। नैयायिक मत वाले प्रकृति को परमाणुओं की बनी हुई मानते हैं और परमाणु को नित्य। परन्तु पश्चिमी विज्ञानवेत्ताओं ने अब निश्चय कर लिया है कि सब जड़ तत्त्वों के मूल में एक ही पदार्थ अथवा शक्ति विद्यमान है। इसी तरह सांख्यवादी भी कहते हैं कि उनकी प्रकृति में परमाणु रूप अवयव-भेद नहीं है, किन्तु मूल प्रकृति में एक ही नित्य द्रव्य है। योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों के अनुसार जगत् प्रतीत होने के कारण सत्य कहलाता है, लेकिन सदा स्थिर न रहने के कारण असत्य है। जैसे स्वप्न के दृश्य जब तक निद्रा रहती है सच्चे प्रतीत होते हैं, वैसे ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होने तक यह जगत भी प्रत्यक्ष-सा जान पड़ता है। योग वासिष्ठ के अनुसार जगत् में ब्रह्म के सिवाय और कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं। इसलिए जगत् के सारे पदार्थ ब्रह्म-मय हैं अथवा माया मात्र हैं। लेकिन जब तक देह में अहंभाव बना रहता है, जब तक जगत् से आत्मभाव बना रहता है, तब तक जगत् का अनुभव स्पष्ट रहता है। वास्तव में जगत् और ब्रह्म एक ही हैं। अद्वैत वेदान्तियों के प्रसिद्ध वाक्य "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" का असली अभिप्राय यही है।

दान का मर्म

श्री संतोष कुमार झा

महाभारत का महाताण्डव समाप्त हो चुका था। देश में सुख-शांति विराज रही थी। महाराज युधिष्ठिर के राज्य में सभी लोग सुखी और प्रसन्न थे। राजकाज भी अत्यन्त सुचारु रूप से चल रहा था। ऐसे समय में महाराज युधिष्ठिर के मन में एक प्रबल अभिलाषा जागी— "मैं भी अश्वमेध यज्ञ करूँगा।" यह विचार उठते ही उनकी छाती फूल गई। गर्व से मस्तक ऊँचा हो गया। भुजाएं फड़क उठीं। उन्होंने अपना निश्चय भाइयों को सुनाया। सभी ने सहर्ष धर्मराज का समर्थन किया।

राज्य के सभी राज-अधिकारियों को इस महायज्ञ की तैयारी करने का आदेश दे दिया गया। अन्न की कोठियाँ विभिन्न प्रकार के अन्नों से भरी जाने लगीं। पशुशाला में दूध और दान के लिये अनगिनत गायें लाई जाने लगीं। यज्ञ की व्यवस्था के लिये राजकोष से अपार धन दिया गया। यज्ञ की वेदी आदि बनाने के लिये उचित स्थान का चयन किया गया। अनुभवी और निपुण कलाकारों एवं शिल्पियों को मंडप आदि बनाने का भार सौंपा गया। अतिथियों के ठहरने के लिये बड़ी बड़ी अतिथिशालाएँ बनवाई गईं।

उनमें शयन-विश्राम आदि सारी सुविधाओं की व्यवस्था की गई। अतिथियों को उनकी रुचि के अनुसार भोजन आदि प्राप्त हो सके इसलिये अनेक पाकशास्त्रियों का प्रबन्ध किया गया। राज्य के अंतः अंचल में यह सब तैयारियाँ हो रही थीं।

और उधर पांडवों की राज्यसीमा के परे बाह्य अंचल में अश्वमेध का विजयी अश्व बढ़ा जा रहा था स्वच्छन्द होकर! महावीर अर्जुन अपनी अजेय वाहिनी के साथ अश्व की रक्षा के लिये सन्नद्ध थे। राज्यों की सीमाएँ पार हो रही थीं। किन्तु किसका साहस कि धनुर्धर अर्जुन और उनकी विशाल सेना को ललकारे। अश्व जिस राज्य में जाता, उसी राज्य के राजा धर्मराज युधिष्ठिर की आधीनता स्वीकार कर लेते और अनेक बहुमूल्य रत्न एवं पशु आदि भेंट स्वरूप अर्जुन को अर्पित करते जाते।

भारत की परिक्रमा कर अर्जुन यथासमय हस्तिनापुर लौटे तथा महाराज युधिष्ठिर से कहा, 'महाराज! भारत के सभी नरेशों ने आपकी आधीनता स्वीकार कर ली है। भेंट स्वरूप सभी ने अनेक रत्न-धन-पशु आदि अर्पित किये हैं तथा सभी ने यज्ञ में आना भी स्वीकार कर लिया है।"

अर्जुन की निर्विघ्न एवं सफल विजय यात्रा का समाचार सुनकर धर्मराज बड़े ही प्रसन्न हुए। गद्‍गद् होकर उन्होंने अर्जुन को गले से लगा लिया। मंत्रियों एवं विद्वानों से परामर्श कर तपस्वी ऋषियों, त्यागी एवं ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों

आदि के पास यज्ञ संपन्न करने हेतु निमंत्रण भेजा गया। चारों दिशाओं में दूर दूर तक दूत भेजे गये। सभी ऋषि-मुनि आदि मनीषियों ने धर्मराज युधिष्ठिर का निमंत्रण स्वीकार किया और ठीक समय पर यज्ञमंडल में उपस्थित हुए। महाराज युधिष्ठिर स्वयं ऋषि-मुनि आदि अतिथियों का स्वागत कर रहे थे। उनके निवास-भोजन आदि की व्यवस्था का निरीक्षण कर रहे थे। राजा की सुव्यवस्था से सभी अतिथि प्रसन्न और संतुष्ट थे।

शुभ मुहूर्त में यज्ञ कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित की गई। वेद मन्त्रों की ध्वनि से दिशाएँ गूँज उठीं। सभी देवताओं का आह्वान कर उन्हें यज्ञभाग दिया गया। यज्ञ के पश्चात् दान प्रारम्भ हुआ। इस महायज्ञ में दान दाता की इच्छा से नहीं अपितु ग्रहणकर्त्ता की इच्छा से दिया गया। राजकोष खोल दिया गया। अन्न के भण्डार खाली कर दिये गये। लाखों गौएँ दान में दी गईं। जिसने जो माँगा और जितना माँगा, उसे वही और उतना दिया गया। युधिष्ठिर के महादान से सारी पृथ्वी धन्य हो गई। पृथ्वी पर से दुःख दारिद्र्य आदि मानों शेष हो गये। निर्धन धनवान् हो गये।

इस महापर्व की समाप्ति पर जब सभी ब्राह्मण, मुनि ऋषि आदि महाराज युधिष्ठिर की प्रशस्ति कर उन्हें आशीर्वाद दे रहे थे, तब एक बड़ी विचित्र घटना घटी। जिस समय यज्ञमंडप में स्तवगान हो रहा था उसी समय वहाँ वज्र के समान एक गंभीर गर्जना हुई और सभी ने आश्चर्य से देखा कि वहाँ एक विचित्र-सा प्राणी उपस्थित है। उसका आधा

शरीर तो स्वर्ण के समान देदीप्यमान है किन्तु आधा साधारण प्राकृतिक अवस्था में है। यह विचित्र प्राणी एक नेवला था। कुतूहलवश सभी लोग उस नेवले को देख रहे थे। तभी उसने मनुष्य की बोली में कहा—"विप्रवृन्द! महाराज युधिष्ठिर के इस महायज्ञ और अतुलनीय दान का महत्त्व सेर भर सत्तू के दान के बराबर भी नहीं है!"

उस धृष्ट नेवले की बात सुनकर सभी लोग बड़े क्षुब्ध हुए। किन्तु उस नेवले का वैचित्र्य और उसकी निर्भीकता देख कर सभीलोग स्तब्ध रह गये। कुछ लोग आगे बढ़े और साहस करके उस नेवले से पूछा, "नकुलराज! धर्मराज युधिष्ठिर ने जो यह यज्ञ किया तथा जो महान् दान उन्होंने दिया, वैसा अद्भुत दान आज तक न किसी ने देखा था, न सुना था, और न भविष्य में ऐसी आशा की जा सकती है। फिर तुमने कैसे इस यज्ञ की निन्दा की और यह कैसे कहा कि इसका महत्व सेर भर सत्तू के दान के बराबर भी नहीं है?

नेवले ने हँस कर कहा—"विप्रवृन्द! अवश्य ही आप मेरे कथन का मर्म नही जानते इसी लिये आपलोग इस यज्ञ-दान आदि की इतनी प्रशंसा कर रहे हैं और मुझसे इसकी निन्दा का कारण पूछ रहे हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मेरी बात का तात्पर्य जान लेने के पश्चात् आप लोग भी मेरे मन का समर्थन करेंगे।"

ब्राह्मणों ने कहा—"नकुल राज! तुम शीघ्र ही हमें सेर भरसत्तू के दाम का रहस्य वतलाओ।"

नेवले ने ब्राह्मणों को तब यह कथा सुनाई —

पुण्यभूमि कुरुक्षेत्र में एक ब्राह्मण परिवार रहा करता था। उस परिवार में केवल चार ही व्यक्ति थे—ब्राह्मण, उसकी पत्नी, पुत्र एवं पुत्र-वधू। परिवार के सभी सदस्य निष्ठावान् और धार्मिक थे। इस परिवार ने उच्छवृत्ति का व्रत लिया था। इस व्रत के अनुसार ब्राह्मण देवता धन या अन्न का संग्रह नहीं करते थे। पक्षियों की भाँति खेतों-खलियानों आदि से अन्न के दाने आवश्यकतानुसार चुन कर ले आते और उसी से जीवन निर्वाह करते। उच्छवृत्ति व्रतधारी होने के कारण इस परिवार ने प्रति छठवें प्रहर भोजन करने का व्रत भी ले रखा था। इसलिये वे लोग सप्ताह में केवल दो ही दिन भोजन किया करते थे।

एक समय की बात है, कुरुक्षेत्र में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। वर्ष पर वर्ष बीतते गये, पर वर्षा की एक बूँद भी न पड़ी। सारे क्षेत्र में त्राहि-त्राहि मच गई। पशु-पक्षी भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर मरने लगे। जो कुछ बचे उन्हें भूख की ज्वाला से जलते मनुष्यों ने मारकर खा लिया। पृथ्वी सूख कर फट गई। चारों ओर धूल उड़ने लगी। इस दुर्भिक्ष में ब्राह्मण परिवार पर तो मानों विपत्ति का पहाड़ ही टूट पड़ा। संग्रह कुछ था नहीं। अकाल के कारण खेतों-खलियानों से अन्न प्राप्त होना दुर्लभ हो गया। प्रति तीन दिन में भोजन करने का छठवाँ प्रहर आता और ब्राह्मण परिवार को भूखा छोड़ कर चला जाता। इसी प्रकार कई प्रहर बीत गये, पर उन्हें अन्न के दर्शन तक न हुए। परि-

वार के सभी सदस्यों के शरीर भूख की ज्वाला से दुर्बल होने लगे। किसी प्रकार अत्यन्त कष्ट से उनके प्राणों की रक्षा हो रही थी। ऐसी ही विपत्ति के समय एक दिन कहीं से ब्राह्मण को एक सेर जौ के दाने प्राप्त हो गये। ब्राह्मण ने अत्यन्त करुणापूर्वक इस कृपा के लिये प्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और उत्साहपूर्वक अपने घर लौट आये। घर आकर उन्होंने वह अन्न पत्नी को दिया और शीघ्र ही प्रसाद बनाकर अपने इष्ट देव को नैवेद्य देने को कहा। ब्राह्मणी ने श्रद्धापूर्वक उस जव का सत्तू बनाकर देव को अर्पित किया, तत्पश्चात् उसके चार भाग कर एक एक भाग पति और पुत्र को दिया तथा दूसरे दो भागों को अपने और पुत्रवधू के बीच बाँट लिया। जैसे ही वे लोग भोजन करने बैठे कि द्वार पर दुःखमिश्रित क्षीण स्वर सुन पड़ा—"बाबा ! कुछ भोजन-सामग्री मिल जाय !"

सभी के हाथ जहाँ के तहाँ रुक गये। भोजन के ग्रास मुँह में रखने के लिये उठे हाथ पुनः भोजन के पात्र में जाकर थिरक गये। सभी के मुख पर एक ही प्रश्न था—"क्या द्वार पर कोई अतिथि हैं ?" ब्राह्मण ने तुरन्त द्वार खोला। द्वार खोलते ही उनकी दृष्टि पड़ी एक क्षुधापीड़ित जंवित नर-कंकाल पर, जिसके शरीर पर केवल अस्थि और चर्म शेष थे। पेट क्षुधा के कारण पीठ से चिपक-सा गया था। उस कृश व्यक्ति ने कातर नेत्रों से ब्राह्मण की ओर देखकर पुनः क्षीण स्वर में वही शब्द दुहरा दिये—"बाबा ! कुछ भोजन-सामग्री मिल जाय।" ब्राह्मण ने लपककर उस अतिथि को सहारा

दिया और उसे आदरपूर्वक घर के भीतर ले गये। उसे एक आसन पर बिठाया और अपने भाग का सत्तू उसके सामने रख दिया। भूखे अतिथि ने पलक मारते ही ब्राह्मण के भाग का सत्तू खा लिया, किन्तु उसकी भूख की ज्वाला शान्त होने के बदले और प्रज्वलित हो उठी। तीव्र क्षुधा के भाव उसके मुख पर स्पष्ट झलक रहे थे। ब्राह्मण बड़े संकोच में पड़े। अतिथि की क्षुधा कैसे शान्त को जाय! अपना भाग तो दे ही चुके थे, अब किसे अन्न से वंचित करें? उनकी पतिपरायणा पत्नी ने अपने स्वामी की मनोव्यथा को समझ लिया और उनसे कहा—"नाथ! स्त्री के लिये पातिव्रत्य धर्म ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। पत्नी अर्धांगिनी कही जाती है। पति के पाप-पुण्य में उसका भी आधा भाग होता है। अतिथि-सेवा के इस महान् धर्म के पालन में मुझे भी आपका सहयोग करना चाहिये। अतएव मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपने भाग का सत्तू भी अतिथिदेव की सेवा में अर्पित कर सकूँ।" ब्राह्मण का संकोच मिट गया। अपनी पतिव्रता पत्नी का सदाचरण देखकर ब्राह्मण की छाती फूल गई। उन्होंने आनन्द पूर्वक पत्नी को अपना भाग अतिथि की सेवा में अर्पित करने की अनुमति दे दी। अतिथि महोदय ने वह सत्तू भी तत्काल खा लिया, किन्तु क्षुधा न गई सो न गई! उसके मुख के भाव वैसे ही बने रहे। अब ब्राह्मण व्यथित हो उठे उन्हें यह सोचकर दुख होने लगा कि आज वे अतिथि सेवा के धर्म से च्युत हो रहे हैं। आज एक अतिथि उनके द्वार से भूखा लौट जायेगा। ब्राह्मण की व्यथा उनके

मुख पर स्पष्ट दीख रही थी। ब्राह्मण के पुत्र ने पिता के हृदय की व्यथा का अनुभव किया और विनीत भाव से उसने पिता से निवेदन किया—"पिताजी! नीति कहती है कि माता-पिता की सेवा ही पुत्र के लिए परम धर्म है। उनकी सेवा-शुश्रूषा से ही पुत्र को परमगति प्राप्त हो जाती है। आप इस समय दुखित हैं। आपका दुख दूर करने में मैं यदि अपने प्राणों की बलि भी दे सका तो वह मेरे लिये परम सौभाग्य की बात होगी। मुझे आज्ञा दें कि मैं भी अपने भाग का सत्तू अतिथिदेव को अर्पित कर सकूँ।" पुत्र का आचरण देख कर ब्राह्मणदेव गद्गद् हो उठे। उन्होंने उसे गले से लगा लिया। उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगी। उन्होंने गद्गद् कंठ से पुत्र को कर्त्तव्य-पालन की आज्ञा दे दी। उसने भी अपना भाग अतिथि को भेंट कर दिया। अतिथि महोदय ने वह भाग भी खा लिया। किन्तु अतृप्ति की कुछ रेखाएँ अभी भी उनके मुख पर शेष रह गईं। एक बार पुनः उन्होंने ब्राह्मण की ओर देखा। अतिथि के मुख के भावों को देख कर अब तो ब्राह्मण व्याकुल हो उठे। हृदय फटने लगा। वे सोचने लगे—"प्रभु! यह क्या! भूखी पत्नी और पुत्र के मुँह से अन्न लेकर मैंने अतिथिदेव की सेवा में उसे अर्पित किया, स्वयं भूख की ज्वाला से जलता रहा, किन्तु फिर भी मैं अतिथि को तृप्त न कर सका! भगवन्! मैं अतिथि सेवा के धर्म से भ्रष्ट हो रहा हूँ। प्रभु, मेरा मार्ग दर्शन करो। मेरे धर्म की रक्षा करो।" उनका व्यथित हृदय नेत्रों के मार्ग से विगलित होकर बहने लगा।

तभी उनकी सुशीला पुत्रवधू ने अत्यन्त नम्रता पूर्वक अपने श्वसुर से निवेदन किया—"भगवन् ! आपकी कृपा से ही मुझे आपके सुपुत्र पति रूप में प्राप्त हुए हैं और मैं प्रतिव्रत रूपी महान् धर्म का पालन करने में समर्थ हो सकी हूँ। पति के कार्यों में योग देना मेरा धर्म है। मेरे पति के लिये आप ही देवस्वरूप हैं। अतः मेरा भी यही धर्म है कि मैं अतिथि सेवा के इस महायज्ञ में अपना भी भाग देकर आपको चिन्ता मुक्त करूँ।"

सुकुमारी पुत्रवधू की यह उदारता और त्याग देखकर ब्राह्मण आनन्द से विह्वल हो उठे। उनके हृदय की व्यथा शांत हो गई। उन्होंने अन्तःकरण से पुत्रवधू को आशीर्वाद दिया और उसके भाग का सत्तू भी अतिथि की सेवा में अर्पित कर दिया। अतिथि के ओंठों पर मुसकान की रेखा खिंच गई। उन्होंने पूर्ण तृप्तिपूर्वक भोजन किया। उनकी क्षुधा शांत हो चुकी थी। मुखमुद्रा से पूर्ण परितृप्ति और सन्तोष झलक रहा था। उन्होंने ब्राह्मण-परिवार के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और आशीर्वाद देकर अपनी राह चल पड़े।

निरंतर उपवास और साधना की कठोरता के कारण ब्राह्मण-परिवार के सभी सदस्यों के शरीर दुर्बल और जर्जर हो गये थे। क्षुधा की ज्वाला और साधना की कठोरता को उनके शरीर और अधिक न सह सके। कालचक्र के अलंघ्य नियमानुसार वे चारों काल-कवलित हो गये।

नेवले ने कहा—"विद्वन्वृन्द ! मैं उसी स्थान पर एक

बिल में रहता था। भोजन की खोज में मैं भी भटक रहा था। जिस स्थान पर उस अतिथि ने भोजन किया था, वहाँ सत्तू के कुछ कण पड़े थे। अकस्मात् मेरे शरीर का एक भाग उन कणों से छू गया। स्पर्श मात्र से ही मेरे शरीर का वह भाग स्वर्णिम हो गया। मैं उसी दिन से ऐसे किसी महान् धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ या दान आदि के पावन स्थल की खोज में भटक रहा हूँ, जिससे कि मैं अपना आधा शरीर भी स्वर्णमय कर सकूँ। तब से आज तक मैं कई ऐसे पवित्र स्थानों पर भटक आया हूँ जहाँ दान-पुण्य होते रहे हैं। महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ-दान की मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी थी और इसीलिये यहाँ आया था। किन्तु अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी मुझे निराशा ही हाथ लगी।

"धर्म स्वयं अतिथि के रूप में उस ब्राह्मण की परीक्षा लेने आये थे। धर्म ने परवर्तीकाल में दान का जो मर्म बताया था वही मैं आप लोगों से निवेदित कर रहा हूँ।

"सुखी और सम्पन्न रहने पर अपनी सुविधानुसार तो बहुत से लोग दान किया करते हैं। किन्तु उनका दान, दान की पवित्र भावना से नहीं किया जाता। वे लोग तो दीन-दुखियों के प्रति दया या करुणा की भावना से प्रेरित होकर करते हैं, अतः अपनी संपन्नता या समर्थता ही इन लोगों के दान की प्रेरणा होती है। इसलिये उस दान का फल श्रेष्ठ नहीं होता। जो लोग नाम-यश या कीर्ति की आशा से अथवा दान के बदले कुछ प्राप्ति की आशा से दान करते हैं, वह दान निकृष्ट कहा जाता है। उस दान से दाता को किसी भी फल

की प्राप्ति नहीं होती। सच्चा दान तो वही है जो केवल दान की प्रेरणा से ही दिया जाय।

"दान करना मेरा धर्म है यह सोचकर साधारण परिस्थिति में जो दान किया जाता है, उसका सुफल निस्सन्देह प्राप्त होता है। किंतु असाधारण और विषम परिस्थिति में जबकि मनुष्य को दान देने की कोई सुविधा नहीं रहती, कष्ट और विपत्तियों के कारण जब मनुष्य का चित्त विक्षुब्ध हो जाता है, तब भी यदि दान के विषय में उसकी निर्लोभ बुद्धि रहे और शुद्ध दान की प्रेरणा से प्रेरित होकर वह अपना सर्वस्व श्रद्धापूर्वक दान कर दे, तो निश्चय ही उसे परमपद की प्राप्ति होती है।"

"क्योंकि धन ही एकमात्र दान का साधन नहीं है। श्रद्धापूर्वक किये हुए थोड़े से अन्न के दानों के दान का महत्व कोटिशः स्वर्ण मुद्राओं के श्रद्धारहित दान से कहीं श्रेष्ठ है। अतः दान का फल वस्तुगत न होकर भावगत है। श्रद्धा ही दान की श्रेष्ठता या न्यूनता की कसौटी है। दान देते समय दानदाता के मन में दान के प्रति जो भाव होते हैं वही दान की कसौटी है। यही दान का मर्म है।"

सनातन-धर्म

पण्डित मदनमोहन मालवीय

मालवीयजी ने अपनी 'हिन्दू धर्मोपदेश' पुस्तिका में सनातन धर्म का स्वरूप इस प्रकार लिखा है :—

परमेश्वर को प्रणाम कर सब प्राणियों के उपकार के लिए, बुराई करने वालों को दबाने और दण्ड देने के लिए, धर्म-संस्थापन के लिए, धर्म के अनुसार संगठन-मिलाप कर गाँव-गाँव में सभा करनी चाहिए। गाँव-गाँव में कथा बिठानी चाहिए। गाँव-गाँव में पाठशाला और अखाड़ा खोलना चाहिए। पर्व-पर्व पर मिलकर महोत्सव मनाना चाहिए।

सब भाइयों को मिलकर अनाथों की, विधवाओं की, मन्दिरों की और गोमाता की रक्षा करनी चाहिए, और इन सब कामों के लिए दान देना चाहिए।

स्त्रियों का सम्मान करना चाहिए।

दुखियों पर दया करनी चाहिए।

उन जीवों को नहीं मारना चाहिए जो किसी पर चोट नहीं करते। मारना उनको चाहिए जो आततायी हों, अर्थात् जो स्त्रियों पर या किसी दूसरे के धन पर या प्राण पर वार करते हों या जो किसी के घर में आग लगाते हों। यदि ऐसे

लोगों को मारे बिना अपना या दूसरों का प्राण या धन न बच सके तो उनको मारना धर्म है।

स्त्रियों को भी, पुरुषों को भी, निर्भयता, सचाई, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, धीरज और क्षमा का अमृत के समान सदा सेवन करना चाहिए।

इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है, और कर्मों के अनुसार ही प्राणी को बार-बार जन्म लेना पड़ता है या मोक्ष मिलता है।

घर-घर में बसने वाले भगवान विष्णु का, सर्वव्यापी ईश्वर का सुमिरन सदा करना चाहिए जिनके समान दूसरा कोई नहीं—जो कि एक हैं, अद्वितीय हैं, और जो दुःख और पाप को हरने वाले शिवस्वरूप हैं, जो सब पवित्र वस्तुओं से अधिक पवित्र, जो सब मंगल कामों के मङ्गल स्वरूप हैं, जो सब देवताओं के देवता हैं और जो समस्त संसार के आदि सनातन अज अविनाशी पिता हैं।

सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, ब्राह्मसमाजी, सिक्ख, जैन, और बौद्ध आदि सब हिन्दुओं को चाहिए कि अपने-अपने विशेष धर्म का पालन करते हुए एक दूसरे के साथ प्रेम और आदर से बरतें। अपने विश्वास में दृढ़ता, दूसरों की निन्दा का त्याग, मतभेद से सहनशीलता (चाहे वह धर्म सम्बन्धी हो या लोक सम्बन्धी) और प्राणी मात्र से मित्रता रखनी चाहिए।

सुनो इस धर्म के सर्वस्व को सुनकर इसके अनुसार आचरण करो। जो काम अपने को बुरा या दुखदायी जान पड़े उसको दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि जिस काम को वह नहीं चाहता, उस काम को वह भी किसी दूसरे के प्रति न करे क्योंकि वह जानता है कि यदि उसके साथ कोई ऐसी बात करता है जो उसको प्रिय नहीं है, तो उसे कैसी पीड़ा पहुँचती है।

मनुष्य को चाहिए कि न वह किसी से डरे और न किसी को डराये। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के अनुसार आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों की वृत्ति में दृढ़ रहते हुए ऐसा जीवन बिताये जैसा कि सज्जन को बिताना चाहिए।

हर एक को यह कामना करनी चाहिए कि सब लोग सुखी रहें, सब का भला हो, कोई दुःख न पाये। प्राणियों के दुःख दूर करने में तत्परता और दया बलवानों की शोभा है। धर्म के अनुसार चलनेवालों को कभी इसका त्याग नहीं करना चाहिए।

देश की उन्नति के कामों में देशभक्त पारसी, मुसलमान, ईसाई, यहूदियों को भी साथ लेकर काम करना चाहिए। यह भारतवर्ष, जो हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध है, बड़ा ही पवित्र देश है। धन, धर्म और सुख का देने वाला यह देश सब देशों से उत्तम है। कहते हैं कि देवता लोग यह गीत गाते हैं कि वे लोग धन्य हैं जिनका जन्म भारत-भूमि में होता है, जिसमें जन्म लेकर मनुष्य स्वर्ग का सुख और मोक्ष दोनों पा सकता है।

यह हमारी मातृभूमि है, हमारी पितृ भूमि है। जो लोग सुजन्मा हैं, जिनके जीवन बहुत अच्छे हुए हैं, ऐसे राम, कृष्ण, बुद्ध आदि पुरुषों के, महात्माओं के, आचार्यों के, ब्रह्मर्षियों के राजर्षियों के, गुरुओं के, धर्मवीरों के, शूरवीरों के, दानवीरों के, स्वतन्त्रता के प्रेमी देशभक्तों के उज्ज्वल कार्यों की यह कर्मभूमि है। इस देश से हमको परम भक्ति करनी चाहिए और धन से भी इसकी सेवा करनी चाहिए।

जिस धर्म में परमात्मा ने गुण और कर्म के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ग उपजाए और जिसमें धर्म,अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के साधन में सहायक, मनुष्य का जीवन पवित्र बनाने वाले ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम स्थापित हैं, सब धर्मों से उत्तम इसी धर्म को हिन्दूधर्म कहते हैं। जो लोग सारे संसार का उपकार चाहते हैं उनको उचित है कि इस धर्म की रक्षा और इसका प्रचार करें।

—०—

कुछ लोगों को जन्म से ही नैतिक गुणों का ज्ञान रहता है। कुछ इसे शिक्षा द्वारा प्राप्त करते हैं, और कुछ लोगों को यह जीवन के कठोर अनुभवों से प्राप्त होता है। पर सभी दशा में इस ज्ञान की प्राप्ति का फल एक ही होता है।

—कनफ्यूशियस

महामना मदनमोहन मालवीय

डा० त्रेतानाथ तिवारी

(गतांग से आगे)

सनातनधर्मियों में मालवीयजी ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने दीनों और पतितों की पुकार सुनी थी। निम्नवर्गों में शिक्षा के प्रचार के लिए उन्होंने ही सर्वप्रथम सन् १८०६ में कौंसिल में भाषण दिया था। भोपाल-विद्रोह से वे चौकन्ने हो गये थे। इसलिए उन्होंने हिन्दू-सभा को संगठित कर हिन्दुओं को एक डोरी में बाँधने का उद्योग किया था। उन्होंने देखा कि हिन्दू अपने समाज से निकलते जा रहे हैं, इसलिए उन्होंने निकले हुए हिन्दुओं की शुद्धि का बीड़ा उठाया एवं सनातन धर्मसभा में अस्पृश्यों को भी मंत्रदीक्षा देने का प्रस्ताव स्वीकृत करा दिया। काशी में सन् १६२८ को महा-शिवरात्रि के पर्व पर दशाश्वमेध घाट में उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को ॐ नमः शिवाय, ॐ नमो नारायणाय, ॐ रामाय नमः, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय आदि मंत्रों की दीक्षा दी थी। दीक्षा लेने वालों में ब्राह्मण भी थे और चाण्डाल भी।

वह दृश्य भूला नहीं जा सकता जब वे रेशमी दुपट्टा ओढ़कर एक-एक को मंत्र और उपदेश देते थे और फिर उनसे

वचन लेकर आशीर्वाद देते थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानों कोई दिव्य ज्योति दुःख के समुद्र की भीषण लहरों में डूबते हुए हजारों-लाखों प्राणियों को अपने सहस्रों हाथों से ऊपर उठा रही है। उनका वह तेज देखने के ही योग्य था।

३० दिसम्बर २८ को कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। इसी दिन मालवीयजी ने हावड़ा पुल के पास मंत्र-दीक्षा देने की घोषणा कर दी। उनकी घोषणा से बड़ी खलबली मच गई। बहुत से सनातनधर्मियों को यह सब अच्छा न लगा। वे सब दीक्षा-स्थल पर इस प्रकार टूट पड़े मानों कोई बड़ा भारी पापकर्म होने जा रहा हो। एक शामियाने के नीचे होम करने और सब हिन्दुओं को दीक्षा देने की तैयारी की गई थी। आठ बजे सबेरे मालवीयजी दीक्षा स्थान में पधारे। दीक्षा लेने वाले इकट्ठे हो ही रहे थे कि इतने में कुछ मारवाड़ी सज्जन और पुराने विचारों वाले शास्त्री बहुत से लोगों को लेकर आ पहुँचे। उन लोगों ने शामियाना गिरा दिया और सभी सामग्री नष्ट कर दी। पर मालवीय जी गंगा के किनारे जाकर दीक्षा-कार्य करने लगे। वहाँ भी उन लोगों ने उपद्रव किया। मालवीयजी ने उनसे कहा, "यदि आपका इस विषय पर शास्त्रीय विरोध हो तो मैं आपके किसी भी पण्डित के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हूँ।" किन्तु उन्होंने ने मालवीयजी को घेर कर उनपर कीचड़-मिट्टी फेंकना प्रारम्भ कर दिया। इसपर भी मालवीयजी अत्यन्त शांति से हँसते हुए सब कुछ सहते रहे।

कुछ देर बाद वे सब शांत हो गये और विरोधी पक्ष के शास्त्री-मण्डल ने एक पण्डित को व्याख्यान देने के लिए कहा। उन्होंने तीन घण्टे तक व्याखयान देकर अपना मत स्थापित किया। अब मालवीयजी अपना उत्तर देने के लिए खड़े हुए। चारों ओर से जयजयकार की ध्वनि गूँज उठी। मालवीयजी ने विरोधी पण्डितों से पूछा कि उन्हें कौन-कौन से ग्रन्थ मान्य हैं। तत्पश्चात् उन्होंने विरोधी पक्ष के एक-एक प्रश्न का, उनके द्वारा बताए गए ग्रन्थों का उद्धरण देकर प्रमाण सहित उत्तर दिया। लोगों ने उनकी विचारसरणी को बहुत पसंद किया। दर्शकों ने प्रचण्ड जय जयकार ध्वनि से उनका गौरव बढ़ाया। लगभग दो बजे दिन को विरोधी लोग हाथ मलते हुए लौट गए। इसके बाद मालवीयजी ने पुनः स्नान किया और साढ़े तीन बजे तक दीक्षा-कार्य चलता रहा। समयाभाव से केवल चार सौ लोगों को ही दीक्षा दी गई।

हिन्दू महासभा के अध्यक्ष डा० मुंजे, श्रीमत् स्वामी सत्यानन्द जी, श्री पद्मराज जैन आदि प्रमुख नेता एवं अन्य बहुत से स्वयंसेवक मालवीयजी के साथ प्रातःकाल से लेकर दीक्षा समाप्ति तक बराबर खड़े रहे। बंगाल हिन्दू महासभा के अध्यक्ष महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण भी पूरे समय तक उपस्थित रहे।

दीक्षार्थी स्नान करके आते। उन्हें पंचगव्य भक्षण कराया जाता। इसके अनन्तर उन्हें विधि पूर्वक मन्त्र दीक्षा दी जाती। फिर दीक्षा-मन्त्र छपा हुआ ओढ़ने का एक-एक वस्त्र

उन्हें दिया जाता और चने और बताशे का प्रसाद देकर दीक्षा की समाप्ति की जाती।

६ जनवरी, २८ को कलकत्ते में पुनः दीक्षा-समारम्भ हुआ। यद्यपि वहाँ पुलीस और स्वयंसेवकों का पूरा पूरा प्रबन्ध था फिर भी मालवीयजी के स्नान करने के समय एक शिखा सूत्रधारी उनपर छुरा लेकर टूट पड़ा। मालवीय-जी बाल-बाल बच गए और वह व्यक्ति पकड़ लिया गया। प्रातःकाल ६ बजे से १२ बजे तक उन्होंने अनेकानेक स्पृश्य और अछूत हिन्दुओं को दीक्षा दी। उस समय अनेक प्रतिष्ठित सज्जन और कुछ अंग्रेज भी उपस्थित थे।

तदनन्तर प्रयाग और काशी में उन्होंने अनेक बार मन्त्र दीक्षा दी। उन्होंने नासिक में गोदावरी के तट पर १२ मार्च, ३६ को डेढ़ सौ हरिजनों को 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र देकर दीक्षित किया था। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया और गालियाँ दीं पर सद्‌वैद्य की नाईं मालवीयजी ने सब कुछ सहन किया। नासिक में गालियाँ देने वालों से उनका सम्मान-सत्कार करने वालों और मानपत्र देनेवालों की संख्या कहीं अधिक थी। वहाँ मालवीयजी का अपूर्व स्वागत हुआ था।

स्कन्दपुराण में इस बात का प्रमाण मिलता है कि यदि चाण्डाल सदाचारी हो तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान आदर पाने योग्य हो जाता है। फिर हम अपने अछूत भाइयों को सदाचारी क्यों न बनायें? छोटी सी छोटी जाति के व्यक्ति को भी हिन्दू धर्म ऊँचा उठा सकता है।

नृसिंह पुराण में लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि सबको भगवान् के दर्शन का पूरा-पूरा अधिकार है। इसके बाद तो बड़े-बड़े विद्वानों ने भी मन्त्र-दीक्षा देना प्रारम्भ कर दिया। काशी के सारे हरिजन समझने लगे कि हम हिन्दू हैं, हमें भी रामनाम जपने का पूरा अधिकार है। निषाद को गले लगाने पर राम, राम ही बने रहे पर निषाद ऊँचा उठ गया। गंगा में मिलने वाली मलिन जलधारा भी पवित्र हो गयी पर गंगा जगत्पावनी बनी रही। लोहा पारस को छू कर सोना बन गया पर पारस, पारस ही बना रहा। महात्मा गाँधी ने अपना हरिजनोद्धार का कार्य काशी में ही समाप्त किया था।

सीतापुर के प्रसिद्ध मुसलमान वकील श्री सैयद नाजिर अहमद साहब ने सर्व प्रथम गोरक्षा का कार्य प्रारम्भ किया था। उन्होंने इस्लामी गोरक्षण सभा स्थापित की। वे गौ और गोपाल कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उन्होंने सदा यही प्रचार किया कि इस्लाम में गोवध की आज्ञा कहीं नहीं है। इसके पश्चात् मद्रास और कलकत्ते में भी इस प्रकार के उद्योग किए गए। मालवीयजी का गोरक्षा-आन्दोलन से बहुत सम्बन्ध रहा है। उनके प्रयत्नों से प्रतिवर्ष कांग्रेस के अधिवेशन के साथ-साथ गोरक्षा सम्मेलन भी होने लगा था। कई बार वे इसके सभापति रहे। उन्होंने स्थान-स्थान पर गोशालाओं की स्थापना के लिए धन एकत्रित किया एवं गोचरभूमि छुड़वाई। उनके बंगले के भीतर कई गौएँ और बछड़ बँधे रहते थे। उन्हें उछलते-कूदते देखकर उनका मुखमण्डल

खिल उठता था। एक बार उनकी मोटर बैलगाड़ी से टकरा गई। मोटर से उतर कर उन्होंने पहले बैलों की चोट की चिन्ता की यद्यपि उन्हें भी पर्याप्त चोट लगी थी। हिन्दू विश्वविद्यालय की वाइस चांसलरी से अलग होने पर वे गो सेवा में ही लग गए और शिवपुर काशी में च्यवनाश्रम की प्रसिद्ध गोशाला की स्थापना की। वे चमड़े का जूता नहीं पहनते थे। आपके जीवन का अन्तिम भाषण च्यवनाश्रम में गो-सेवा पर ही हुआ था। वहाँ उन्होंने ग्रामीणों के सामने कहा था—

'दूध पियो कसरत करो, नित्य जपो हरिनाम।
हिम्मत से कारज करो, पूरेंगे सब काम॥'

यदि इस पृथ्वी पर गो-दुग्ध न होता, तो मानव-संतति का संवर्धन न होता। जो संतति होती भी, तो वह रुक्ष, निर्वीर्य, शक्ति रहित, कृश और कुरूप होती।

गान्धीजी ने कहा था कि, "भीख माँगने की कला मैंने अपने बड़े भाई मालवीयजीसे सीखी।" समस्त भारत ने इस भिखारी की झोली में एक करोड़ रुपये की भीख डाल दी, और 'भिखारी सम्राट्' की उपाधि दे दी। सर सुन्दरलाल ने मालवीयजी को एक लाख रुपया दिया था और वे हिन्दू विश्वविद्यालय के पहले वाइस-चांसलर बनाए गये थे।

कांग्रेस के प्रायः सभी अधिवेशनों में मालवीयजी के भाषण होते थे। कभी-कभी विरोध में बोलने पर भी जनता बड़े ध्यान से उनके भाषणों को सुनती थी। ह्यूम साहेब

ने कलकत्ता कांग्रेस की रिपोर्ट में लिखा है, "जिस वक्तृता के लिए कई बार तालियाँ बजीं और जिसे जनता ने बड़े उत्साह से सुना, वह उच्चकुलीन ब्राह्मण पंडित मदनमोहन मालवीय की वक्तृता थी। उनके गौरवर्ण और उनकी मनोहर आकृति ने प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लिया और अचानक सभापति की बराबर वाली कुरसी से कूदकर उन्होंने ऐसा सुन्दर, जोरदार और धाराप्रवाह भाषण दिया कि सब दंग रह गए। उस व्याख्यान का अमर वाक्य था—प्रतिनिधित्व नहीं तो कर भी नहीं।" सन् १८९२ में पंडित अयोध्यानाथजी की दुखद मृत्यु के कारण कांग्रेस का प्रयाग का अधिवेशन रुक रहा था, किन्तु मालवीयजी ने अपनी सारी शक्तियाँ जुटाकर वहीं कांग्रेस की बैठक सकुशल सम्पन्न करवाई थी।

काशी में कांग्रेस अधिवेशन के साथ-साथ सोशियल कान्फ्रेन्स का आयोजन भी किया गया था। सर नारायण चन्दाबरकर उसके प्रधान मंत्री थे। पर स्थान का अभाव होने के कारण दिसम्बर जैसे भयानक जाड़े के दिनों में कान्फरेन्स के लिए मालवीयजी ने अपना घर खाली करा दिया था और अपना सामान-असबाब पेड़ के नीचे रखकर मामूली परदा लगाकर अपना निर्वाह किया था।

सूरत में कांग्रेस अधिवेशन के बीच में नरम और गरम दल के बीच गाली-गलौज हो गई। एक जूता श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को छूता हुआ निकल गया जिसे उन्होंने 'मेरी देशसेवा का इनाम' लिखकर अपने घर में टाँग रखा था। कुर्सियाँ

भी फेंक दी गईं। पुलिस घटना की जाँच करने आई और सभा-मण्डप खाली करा दिया गया। उस समय मालवीयजी को बड़ा क्लेश हुआ। वे खम्भे के सहारे खड़े हो गए और उनकी आँखों से अश्रुओं की धारा बहने लगी।

इसी समय से कांग्रेस ने 'प्रार्थना-पत्र के युग' से 'विद्रोह के युग में प्रवेश किया। विपिनचन्द्र पाल राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय शिक्षाप्रचार करने लगे। स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग और विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार ने जोर पकड़ा। घर-घर में करघे चलने लगे। मालवीयजी ने सर फिरोजशाह मेहता के इन्कार करने पर भी लाहौर के कांग्रेस अधिवेशन का सभापतित्व किया। उनके हृदय में हिंसा का अभाव था। मधुर मुरली ध्वनि के समान मीठे वचनों से वे सबको वश में करना चाहते थे। इसीलिए उनका तिलक से मतभेद हो गया था। वे जानते थे कि भारत एक दुर्बल रोगी के समान है तथा उसे तेज दवा नहीं देनी चाहिए।

घर की देखभाल करने के लिए आपको फ़ुरसत नहीं मिलती थी। धर्मपत्नी को चोट लग जाने पर भी उन्होंने अपनी यात्रा नहीं रोकी। किन्तु जब वे घर में रहते तब पुत्रियों और नाती-पोतों से खूब बातें किया करते और उनके साथ खेला करते। वे बच्चों के साथ बच्चे बन जाया करते थे। दूसरे के बच्चों को भी वे अपने ही घर के बच्चों के समान प्यार करते थे। जब वे परिवार में बैठते तो खूब हँसी मजाक करते और चुटकियाँ लेते।

आपका घर एक अतिथिशाला ही था। वहाँ सदव

अतिथिगण विराजमान रहा करते थे इसका कारण आपका सुन्दर और स्नेहपूर्ण व्यवहार था। एक दिन की घटना है। दोपहर के समय वे भोजन करके बाहर निकले ही थे कि एक साधु आ गए। मालवीयजी ने उन्हें प्रणाम किया। जब साधु ने भोजन की याचना की तब उन्होंने कहा—"महाराज, मेरे घर का चौका उठ चुका है पर मैं पड़ोस के मित्र के यहाँ से भोजन लाकर आपका प्रबन्ध करता हूँ।" साधु के बहुत मना करने पर भी मालवीय जी ने अपने मित्र के यहाँ से सामान लाकर उन्हें भोजन कराया।

जब उन्होंने वाइस चांसलरी छोड़ी तो कोर्ट मीटिंग ने उन्हें दो लाख रुपयों का चेक प्रदान किया। आपने तत्क्षण उसे प्रो-वाइस चांसलर को विश्वविद्यालय के खाते में जमा करने के लिए दे दिया।

एक बार विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों का श्री हरिहर बाबा की साधु मण्डली से झगड़ा हो गया। बाबा इससे नाराज होकर अपने परिजनों सहित अस्सी घाट रहने चले गए। जब मालवीयजी काशी लौटकर आए तो उन्हें यह समाचार विदित हुआ। वे तत्काल हरिहर बाबा के पास गए और उन्होंने कहा कि "आप उसी स्थान पर चलें, मैं सब प्रबन्ध कर दूँगा। आप बालकों का अपराध क्षमा कर दें।" हरिहर बाबा ने मालवीयजी को हजारों गालियाँ दीं, पर वे हाथ जोड़े खड़े रहे और अपनी पगड़ी उनके पैरों पर रख दी। दूसरे दिन आप पुनः वहाँ गए, किन्तु उस रोज तो बाबा स्वयं उनका गुणगान कर रहे थे। मालवीयजी की

शांति ने कितने ही ज्वालामुखियों के मुख से फूल की वर्षा करा दी है। एक बार एक सज्जन बड़े लाल-पीले होकर मालवीयजी के पास लड़ने के बिचार से आए। किन्तु जब वे बाहर निकले तो कहने लगे, "भाई, उनके तेज और शांति के सामने तो मेरे होश ही ठंडे हो गए।"

एक बार एक चिरपरिचित वृद्ध पंजाबी सज्जन ने मालवीयजी की बीमारी के समय उनसे कहा, "आप देशसेवा में जो इतनी चिन्ता और मिहनत करते हैं, इसी के परिणाम-स्वरूप आप बीमार हुए हैं। अब आप बूढ़े हो रहे हैं। इतनी मिहनत न किया करें तो अच्छा हो।" किन्तु मालवीयजी ने कष्ट में भी मुस्कराते हुए दृढ़ता से उत्तर दिया, "आपके भाव उच्च हैं। आपकी कृपा है। किन्तु आप बुज़दिली छोड़ दें। मुझे बहुत काम करना है। मैं आपको इतमीनान दिलाता हूँ कि अभी मुझे मरने के लिए भी फ़ुरसत नहीं है।"

एक बार प्राच्यविद्या (संस्कृत) के विद्यार्थियों को छात्रावास में रखने के सम्बन्ध में कठिनाई उपस्थित हो गई। विश्वविद्यालय का कुछ भाग बन गया था। छात्रावास बनते जा रहे थे। छोटे कमरों वाला छात्रावास, जिसमें प्रत्येक कमरे में एक ही विद्यार्थी के निवास का प्रबन्ध था, बन चुका था। संयोगवश वह अंग्रेजी के विद्यार्थियों को दे दिया गया। संस्कृत के विद्यार्थियों को बड़े कमरे मिले जिसमें तीन-चार विद्यार्थियों का एक ही कमरे में रहने का प्रबन्ध था। ये विद्यार्थी रुष्ट हो गए। मालवीयजी उस समय काशी में नहीं थे। जब वे वापस लौटे तो छात्रों ने इस सम्बन्ध

में उनसे चर्चा की। यद्यपि विद्यार्थियों का व्यवहार बड़ा उद्धत था पर मालवीयजी अत्यंत धैर्य धारण कर शांत रहे और बड़ी देर तक विद्यार्थियों को प्रेम से समझाते रहे। अंत में विद्यार्थियों को मालवीयजी की आज्ञा माननी पड़ी। वे बीच में थोड़े भी क्षुब्ध नहीं हुए। अंत तक उनमें अक्षुण्ण धैर्य बना रहा, उनकी मीठी वाणी, प्रेम और प्रसन्नवदन स्वभाव ने विद्यार्थियों को अपने वश में कर लिया।

कानपुर के कांग्रेस अधिवेशन में वे भाषण दे रहे थे, "देश तबाह हो रहा है। संकट बढ़ रहे हैं।" इतने में ही मंच के पास बैठे हुए एक सदस्य ने उठकर कहा, "इसके लिए आप ही जिम्मेदार हैं।" मालवीयजी ने पूछा—"मैं?" वे बोले, "हाँ, आप।" मालवीयजी ने मुस्कराते हुए बड़ी ही शांति से कहा, 'भगवान् आपको सद्बुद्धि दें।" अपनी प्रशंसा सुनकर वे सदा यही कहा करते थे, "मैंने क्या किया है, सब भगवान् विश्वनाथ की कृपा है, आप लोगों का आशीर्वाद है।"

मालवीयजी का हृदय दूसरों के दुःखों का अनुभव कर शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाता था। एक बार अपने सहपाठी मित्र डा० गहमल का गुणगान करते हुए उनका कण्ठ गद्गद हो गया और आँखों से आँसू बहने लगा। देश की दीनता का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था, "दीन मल्लाह अपनी नाव की रक्षा के लिए रात में अकेला उसीपर सोता है, उसके पास बिछाने का नहीं रहता। बस, वह एक पतला सा दुपट्टा और रहता है। ओस में जब उसका दुपट्टा भींग

जाता है तो उसी को वह फिर से निचोड़ कर ओढ़ लेता है। इसी तरह तीन-चार बार करके वह रात बिता देता है।"

सभी लोग मालवीय जी को अपना दुखड़ा सुनाने आते थे और उनका बहुत सा समय नष्ट कर देते थे। एक बार उनके पुत्र गोविन्द ने मिलने वालों पर रोक लगाने का विचार प्रकट किया किन्तु मालवीयजी ने दृढ़तापूर्वक इस बात की मनाही कर दी।

उनकी छिहत्तरवीं वर्ष गाँठ पर जयन्ती-उत्सव मनाया गया। उन्हें इस समय अनेक संस्थाओं की ओर से बधाइयाँ और शुभकामनाएँ दी गईं। उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भी समर्पित किया गया। मालवीयजी ने इस अवसर पर कहा था, "मैं आज मूक हो रहा हूँ। जिस प्रेम और उत्साह से आपने यह उत्सव मनाया है, शब्दों द्वारा मैं उस भाव को प्रकट नहीं कर सकता। मैं भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे आयु दें। देश की दशा बड़ी बुरी हो गई है। हिन्दू-धर्म भी असंघटित है। सारी जाति की दशा बुरी हो गई है। इस दुःख के उमड़ते हुए समुद्र में क्या मुझे मरने की फ़ुरसत है? मुझे सबसे बड़ी यही चिन्ता है कि देश और धर्मकी किसी तरह दशा सुधरे और मैं इसी-लिए भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे इस काम को करने के लिए आयु देने का अनुग्रह करें। मेरा सौभाग्य है कि मेरे पितामह, पितामही, पिता, माता बड़े धर्मात्मा, पवित्र, सदाचारी निःस्वार्थी ब्राह्मण थे। उन्हीं के प्रसाद से

मैं इतना काम कर सका हूँ। मैंने बहुत थोड़ी विद्या पढ़ी है। मैं बहुत कम अंग्रेजी और कुछ संस्कृत जानता हूँ। मुझमें शारीरिक बल भी कम है और धन तो सदा से ही कम रहा है। मेरे पिता एक गरीब ब्राह्मण थे और उन्होंने सदा ब्राह्मण का जीवन बिताया। यह उन्हीं की तपस्या थी जिसने मुझे धर्म, जाति और देश का सेवक बनाया। मैं चाहता हूँ कि भारतवर्ष के सब लोगों को ऐसे ही धर्मात्मा पिता और पितामह मिलें।...मेरा दस वर्ष का कार्यक्रम है, जिसको मैं इसी शरीर से पूरा कर जाना चाहता हूँ।... आप विश्वास रखें मैं अभी नहीं मरूँगा। शरीर छूटने पर भी मैं नहीं मरूँगा बल्कि विश्वविद्यालय में या यहीं कहीं जन्म लेकर हिन्दू जाति और देश की सेवा करूँगा। यदि भगवान् की मर्जी हुई तो वे मुझे और आयु देंगे। यदि इसी शरीर से उन्हें और सेवा करानी होगी तो वह मेरे स्वास्थ्य और बल में वृद्धि करेंगे और यदि उनकी इच्छा नहीं होगी तो उनकी मर्जी। इस बात को भगवान् समझते हैं।

"इस मन्दिर के लिए मैं क्या कहूँ। यह अब तक क्यों नहीं बना, इसके लिए मुझे बड़ा दुख है। मैंने इसके लिए काफी समय नहीं दिया, मुझे इसकी बड़ी शर्म है। हम सबको जतन करना चाहिए ताकि सामग्री इकट्ठी हो और काम हो। जिन लोगों ने मुझे आशीर्वाद दिया है, उनको मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ, और आशा करता हूँ कि सब लोग हिन्दू-संस्कृति की रक्षा करेंगे, जिससे हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का उद्देश्य पूर्ण हो।

"मैं फिर आप सबको रोम-रोम से धन्यवाद देता हूँ।"

इसके बाद मालवीयजी की जयजयकार के साथ सभा विसर्जित हुई और उनकी उस समय की वाणी भी सफल हुई। वे सचमुच दस वर्ष तक जीवित रहे।

अन्त समय तक उन्हें मन्दिर की चिन्ता थी। किन्तु इस सम्बन्ध में श्री जुगल किशोर जी बिड़ला ने स्वयं उनसे कहा, "महाराज, मन्दिर की चिन्ता लेकर आप मत जाइए। मन्दिर मैं बनवा दूँगा।" इससे अवश्यमेव उन्हें अतीव शांति प्राप्त हुई। किन्तु जिस चिन्ता ने उन्हें सहसा अन्तिम वक्तव्य देने के लिए विचलित कर दिया था, वह था नोआ-खाली में मुस्लिम लीग के गुण्डों का अत्यन्त नीचता और बर्बरतापूर्ण अत्याचार। निमोनिया की अन्तिम बीमारी में वे बार बार नोआखाली के ताजे समाचार पूछा करते थे। अन्यथा, ऊर्ध्व स्वास लेते हुए श्रीविष्णु भगवान् एवं माता-पिता के चित्रों का दर्शन करते शांति से पड़े रहते थे।

मालवीयजी जैसे महापुरुषों की जीवनी हमारे लिए अन्धकार में प्रदीप के समान है और निराशा में आशा प्रदान करती है।

—oo—

कितना भी प्रयत्न क्यों न करो, पर कामनाओं के त्याग के बिना भोगों का त्याग क्षणिक होता है।

—महात्मा गांधी

प्रश्न—मन बड़ा चंचल है। उसकी चंचलता को दूर करने का कोई सरल उपाय बता सकते हैं?

—स्नेहलता श्रीवास्तव, कानपुर।

उत्तर—सरल उपाय बताना बड़ा कठिन है। रोग जितना कठिन होता है, उसकी दवा भी उतना ही कड़वी होती है। शत्रु जितना भयंकर होता है, उसको जीतने का उपाय भी उतना ही कठिन होता है। फिर भी, लगन के द्वारा असम्भव को सम्भव किया जा सकता है। हार मान लेने या निराश होने की कोई बात नहीं। गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को मनोजय के लिए दो उपाय बताये हैं— अभ्यास और वैराग्य। जिन बातों से मन की चंचलता कुछ कम होती हो, उनका नियमित अभ्यास, और जिनसे मन अधिक चंचल हो उठता हो, उनके प्रति विराग या उपेक्षा।

एक सुझाव दूँगा। इस वर्ष के जनवरी-मार्च अंक में तथा इस अंक में श्रीमद् स्वामी अशोकानन्दजी महाराज का "ध्यान में बैठने से पहले" शीर्षक वाला लेख छपा है। आप उसे ध्यानपूर्वक पढ़ जाइये, एक बार पढ़िये दो, बार

पढ़िये, बारम्बार पढ़िये। आपको काम की सारी बातें उसमें मिल जायेंगी।

❀ ❀ ❀

प्रश्न—जब मैं इष्टदेव का ध्यान करता हूँ तो कभी उनका हाथ ही ध्यान में आता है और कभी उनके पैर। कभी अन्य अंग ध्यानमें आते हैं, पर इष्टदेवका समूचा आकार कोशिश करने से भी ध्यान में नहीं आ पाता! क्या किया जाय?

—देवकुमार गुप्त, जोधपुर

उत्तर—चिन्ता की कोई बात नहीं। निम्नलिखित अभ्यास से आपकी समस्या दूर हो सकती है—

ठीक है, आप ध्यान करिये। मान लीजिए, इष्टदेव का हाथ ही ध्यान में आपके सामने आया। आपके प्रश्न से ऐसा लगता है कि आपका मन बन्दर की तरह हाथ से कूद कर पैर पर, फिर पैर से कूदकर चट सिर पर चला जाता है इस वन्दर को कूदने दीजिए, पर अब उसके कूदने को प्रणालीबद्ध करने की कोशिश कीजिए। मतलब यह कि हाथ से उसे चट पैर पर कूदने न दें, हाथ से हाथ के ही अन्य भागों पर मन को कुदाइए। अर्थात्, समूचे हाथ को ध्यान में लाने का प्रयत्न करें। इष्टदेव के जिस चित्र पर आप ध्यान लगाते हैं, उस चित्र को बारम्वार बारीकी से देख लीजिए कि इष्टदेव के हाथों में क्या है, उनका पहनावा किस प्रकार का है, पैरों में वे क्या पहने हुए हैं, कानों में क्या है, गले में क्या है इत्यादि। समूचे हाथ को ध्यान में लाने के बाद मन को इष्टदेव के गले पर ले जाइये। वहाँ से उनकी ठोढ़ी पर, फिर ओठों पर, फिर नासिका, आँखों

और कानों पर, फिर मस्तक और सिर के केशों पर। अब केशों से नीचे उतरिये— उसी क्रम में। गले तक नीचे उतर कर मन में उनके समूचे मुखमण्डल को लाने की कोशिश कीजिए। फिर धीरे-धीरे और नीचे उतरिये। उनकी दोनों भुजाओं और वक्षस्थल का ध्यान करें, फिर उनके पेट का, फिर कमर का, फिर जाँघों का और फिर उनके चरणों का। शृंखला को बिना तोड़े आप अब ठीक उल्टे क्रम से चरणों से केश तक जाइये। हो सकता है, बीच बीच में पूर्व संस्कार वश शृंखला टूट जाती हो, पर प्रयत्न पूर्वक शृंखला को बनाये रखने का प्रयास करें। जिस अंग का ध्यान बैठते ही मन में आता हो, वहीं से ऊपर की ओर केश तक धीरे-धीरे जाइए— फिर केश से पैर तक, पुनः पैर से केशों तक। यह क्रिया जितनी बार दुहरा सकते हैं, दुहरायें। यदि बीच में कोई अंग स्पट न दीखता हो तो आँखें खोलकर उनके चित्रपट में उस अंग को देख लें।

इस प्रकार का नियमित अभ्यास आपको अल्प काल में ही मनोवांछित फल दे सकता है।

❀ ❀ ❀

(विशेष सूचना—कई पाठकों की समस्याएँ समान रहती हैं। वे सभी इस प्रश्नोत्तरी से लाभ उठा सकते हैं। जिन पाठकों को इन उत्तरों से किसी प्रकार का लाभ होता हो, उनसे अनुरोध है कि वे हमें इस सम्बन्ध में अवश्य सूचित करें। हम उनका नाम और वक्तव्य 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित करना चाहेंगे।—सं०)

विवेकानन्द शताब्दी समारोह, रायपुर

संक्षिप्त रिपोर्ट

विवेकानन्द आश्रम के तत्त्वावधान में विगत २६ दिसम्बर १९६३ से १ जनवरी १९६४ तक विश्वबन्द्य स्वामी विवेकानन्द जी की जन्म शताब्दी का समापन उत्सव मनाया गया। इस अवसर पर चार दिनों तक देश के सुप्रसिद्ध संतों, विचारकों एवं विद्वानों के भाषणों का आयोजन किया गया था। प्रथम दिन मध्य प्रदेश के राज्यपाल माननीय श्री हरिविनायक जी पाटस्कर महोदय ने शताब्दी समापन समारोह के उद्‌घाटन के साथ विवेकानन्द आश्रम के नव-निर्मित 'विवेकान्द स्मृति ग्रन्थालय' का भी उद्‌घाटन किया।

रविवार २९ दिसम्बर १९६३ की सन्ध्या को साढ़े ६ बजे राज्यपाल महोदय विवेकानन्द आश्रम में पहुँचे। मंच पर पहुँचकर उन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी के चित्रपट को पुष्पहार अर्पित किया। तदुपरान्त विवेकानन्द आश्रम के अध्यक्ष स्वामी आत्मानन्द ने आश्रम के कार्यों की प्रगति की रिपोर्ट पढ़ते हुए राज्यपाल महोदय का स्वागत किया। स्वामीजी ने बताया कि विवेकानन्द आश्रम परिक्षेत्र में जिन भव्य भवनों का निर्माण किया गया है, वे विगत डेढ़ वर्षों की अल्पावधि में ही बने हैं। इसके बाद राज्यपाल महोदय ने बारह हजार जनसमुदाय की तालियों की गड़गड़ाहट के बीच 'विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय' का उद्‌घाटन किया। वे ग्रन्थालय के भव्य भवन से तथा उससे भी अधिक ग्रन्थालयमें सुरक्षित बहुमूल्य पुस्तकों को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए।

'विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय' का उद्‌घाटन करने के

उपरान्त राज्यपाल महोदय मंच पर समारोह के प्रथम दिवस की अध्यक्षता करने के लिए आए। स्वामी आत्मानन्द ने उन्हें विवेकानन्द आश्रम से प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक पत्रिका 'विवेक ज्योति' के समस्त अंकों को भेंट स्वरूप प्रदान किया। अपने उद्घाटन भाषण में राज्यपाल महोदय ने कहा कि ग्रन्थ ज्ञानवर्धनके प्रभावी साधन हैं। भारत अपने प्राचीन ग्रन्थोंको एक बहुमूल्य सम्पत्ति मानकर उन्हें सुरक्षित करनेका उपक्रम करता रहा है। ग्रन्थालय की पुस्तकों का उल्लेख करते हुए राज्यपाल महोदय ने कहा कि यहाँ इंजीनियरिंग की बहुमूल्य पुस्तकों की प्रचुरता को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मुझे विश्वास है कि इंजीनियरिंग के निर्धन विद्यार्थियों को इस ग्रंथालय से अत्यधिक सहायता मिलेगी। रायपुर में शीघ्र ही विश्वविद्यालय का कार्यारम्भ होने जा रहा है। इस दृष्टि से विवेकानन्द आश्रम के द्वारा जो पवित्र कार्य किया जा रहा है उसे देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

'विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय' के उद्घाटन भाषण के उपरान्त राज्यपाल महोदय की अध्यक्षता में विवेकानन्द शताब्दी समारोह का शुभारम्भ हुआ। सर्वप्रथम शासकीय संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य डा० श्रीनाथजी हसूरकर ने 'शिक्षाशास्त्री विवेकानन्द' पर भाषण देते हुए कहा कि स्वामीजी ने अपने क्रांतिकारी शिक्षातंत्र के द्वारा व्यक्ति और समाज के संघर्ष को समाप्त करने का सफल उपक्रम किया था। वे एक महान् दार्शनिक थे तथा इसी दार्शनिक भूमिका पर खड़े होकर उन्होंने नव भारत के निर्माण की अपनी योजना बनाई थी। वे प्राचीन गुरुकुल की शिक्षा-

मानसीय राज्यपाल महोदय 'विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय' का उद्घाटन कर रहे हैं ।
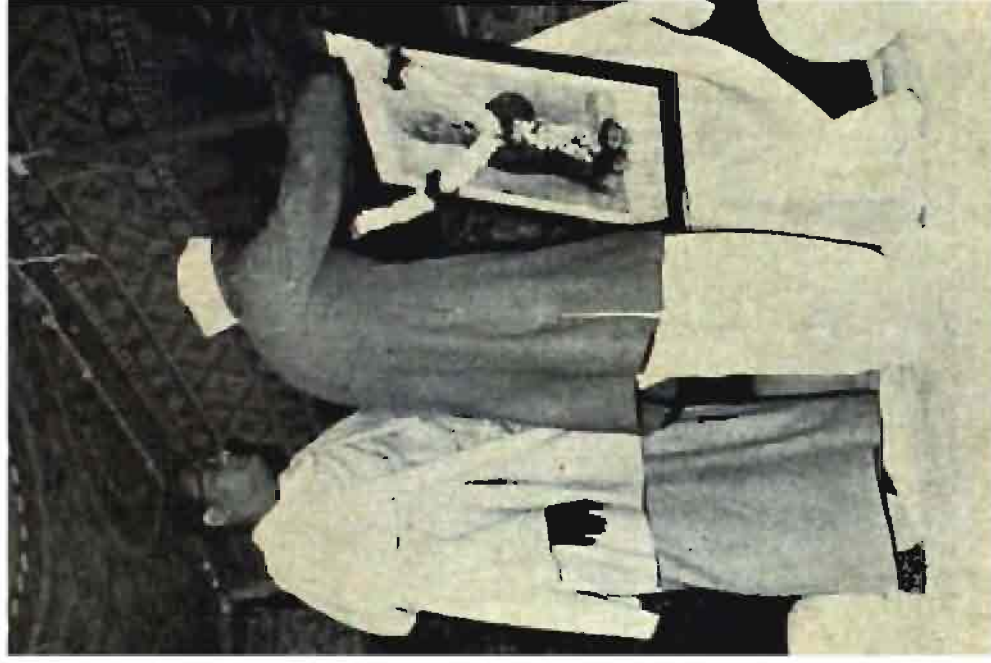
स्वामी विवेकानन्दजी के चित्रपट को पुष्पहार अर्पण ।

स्वामी आत्मानन्द राज्यपाल महोदय को 'विवेक-ज्योति' के अंक भेंट कर रहे हैं।

काका कालेलकरजी भाषण करते हुए। मंच के दाहिने ओर श्री जैनेन्द्र कुमारजी दिखाई दे रहे हैं।

प्रणाली को आधुनिक संशोधनों के साथ अवतरित करना चाहते थे। वे स्त्री-शिक्षा पर बड़ा बल देते थे तथा पुरुषों की शिक्षा के साथ स्त्रियों की शिक्षा को भी अनिवार्य मानते थे।

मुख्य नगरपालिका अधिकारी श्री शारदा प्रसाद जी तिवारी ने 'राष्ट्रनिर्माता विवेकानन्द' पर भाषण देते हुए कहा कि स्वामीजी अन्यतम राष्ट्रनिर्माता और विलक्षण बुद्धिसम्पन्न युगपुरुष थे। उन्होंने देश में महान् वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया था। उन्हीं के सुझावों का पालन करने से हमें कालान्तर में स्वाधीनता मिली है और भारतीय संस्कृति पर हमारा विश्वास दृढ़ हुआ है।

विवेकानन्द आश्रम के संचालक स्वामी आत्मानन्द ने 'ऋषि विवेकानन्द' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि स्वामी विवेकानन्द, मंत्रद्रष्टा ऋषि थे। ऋषियों का कार्य समाज को जगाना होता है तथा उसे उस पथ पर चलाना होता है जिसमें उस समाज का कल्याण है। स्वामी विवेकानन्द ने दासताजन्य निराशा की निद्रा से भारतवासियों को जगाकर ऋषितुल्य आचरण किया है। आत्मानन्दजी ने बताया कि स्वामी विवेकानन्द धर्म का युगानुकूल आख्यान करने वाले ऋषि थे। उन्होंने भारतवासियों को बताया था कि धर्म ही भारत का प्राणकेन्द्र है तथा धर्म एवं आध्यात्मिकता को अक्षत रखने पर ही भारत का उत्थान हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द जी के ऋषित्व पर चर्चा करते हुए आत्मानन्द जी ने कहा कि स्वामीजी ने धर्म को जनसेवा के रूप में परिभाषित किया था और राष्ट्रदेवता की उपासना को भारतीय नवयुवकों का कर्त्तव्य निरूपित करते हुए

आततायियों का प्रतिकार करने का संदेश दिया था।

विवेकानन्द शताब्दी समारोह के प्रथम दिवस के कार्यक्रम का समापन करते हुए अध्यक्षपद से माननीय राज्यपाल श्री हरि विनायक पाटस्कर जी ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द एक क्रान्तिद्रष्टा ऋषि थे। उन्होंने भारत तथा भारतीयता की रक्षा के लिए जो कार्य किया है। वह भारतीय संस्कृति की अक्षय निधि है। स्वामीजी के धर्मविषयक दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए विद्वान् वक्ता ने कहा कि हिन्दू धर्म की आज विचित्र अवस्था हो गई है। लोग अपने-अपने दृष्टिकोण से धर्म की व्याख्या करना चाहते हैं। वास्तव में हिन्दू धर्म भारतीय संस्कृति ही है जिसमें सबको समाविष्ट करने की क्षमता निहित है। स्वामी विवेकानन्दजी के कार्यों का महत्त्व बताते हुए माननीय राज्यपाल महोदय ने कहा कि जिस समय लोगों में नैराश्य की भावना घर कर गई थी और हिन्दू धर्म तथा राष्ट्रप्रेम का प्रभाव घट रहा था, ऐसे समय में स्वामी विवेकानन्दजी ने अपने उपदेशों के द्वारा समाज में नई चेतना का सचार किया एवं भारतीय संस्कृति की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया।

* * *

विवेकानन्द शताब्दी समारोह के समापन उत्सव के दूसरे दिन साढ़े छः बजे 'युगपुरुष विवेकानन्द' पर परिसंवाद का आयोजन किया गया था। हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री जैनेन्द्र कुमार उक्त परिसंवाद के अध्यक्ष थे तथा सर्वोदय के कर्मठ नेता काका कालेलकर जी मुख्य अतिथि थे।

महाराष्ट्र के प्रमुख समाजसेवी, महान् शिक्षाशास्त्री तथा संसद-सदस्य काका कालेलकरजी ने, 'युगपुरुष विवेकानंद'

पर प्रेरक भाषण देते हुए कहा कि, 'कोलम्बो से लेकर अल्मोड़ा तक यात्रा करने वाले, आधुनिक युग में सर्वप्रथम देश का वास्तविक दर्शन करनेवाले, अमेरिका में हिन्द धर्म एवं भारतीय संस्कृति की ध्वजा गाड़ने वाले तथा आधुनिक युग के तीन महापुरुषों कवीन्द्र रवीन्द्र, योगिराज अरविन्द एवं महात्मा गाँधी को प्रेरणा देने वाले स्वामी विवेकानन्द को ही मैं सच्चे अर्थों में युगपुरुष मानता हूँ।" विद्वान् वक्ता ने कहा कि १८५७ की राज्यक्रांति की विफलता से भारतीयजन हृदय हार चुके थे तथा उनका आत्मविश्वास टूट चुका था। इस हीन भावना का निराकरण करने के लिए तथा भारत की शिथिल धमनियों में रक्त का संचार करने के लिए छः वर्षों के पश्चात् ही स्वामी विवेकानन्द जी का जन्म हुआ था। कालेलकर जी ने महात्मा गाँधी, योगिराज अरविन्द तथा कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जीवन के दृष्टान्तों का उल्लेख करते हुए उनपर स्वामी विवेकानन्दजी के प्रभाव का दिग्दर्शन कराया और बताया कि अपने जीवन को निरन्तर चालीस वर्षों तक जलाकर स्वामीजी ने दुनिया को जो ज्योति प्रदान की है, वह ज्योति संसार को युगों तक आलोकित करती रहेगी।

प्राध्यापिका कुमारी शकुंतला वाटगे ने 'भारतीय नारी के सन्दर्भ में विवेकानन्द' के विचारों को रखते हुए कहा कि स्वामीजी नारी को शक्ति की प्रतिमा समझते थे। उन्होंने समाजको बताया था कि नारी की अवहेलना करके वह कभी भी उन्नत नहीं हो सकता। जब उदात्त नारियों की जीवन-गाथाएँ केवल ग्रन्थों के बीच ही सीमित थीं तब स्वामीजी ने

उन्हें सामाजिक जीवन में उतारने का उपक्रम किया।

स्वामी आत्मानन्द ने 'भगवान् श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द' पर सारगर्भित व्याख्यान देते हुए कहा कि भगवान् श्री रामकृष्णदेव और स्वामीविवेकानन्दजी में पूर्वी और पश्चिमी जीवन की चेतनाएँ स्पन्दित हो रही थीं। उनके सम्मिलन से पूर्वी एवं पश्चिमी जीवनदृष्टियोंका समाहार हुआ है। उन्होंने कहा कि भगवान् श्रीरामकृष्णदेव ने जिन आध्यात्मिक अनुभूतियों को उपलब्ध किया था उन्हें स्वामी जी ने दर्शन तथा मनोविज्ञान के आलोक में विवेचित किया और आधुनिक युग के संदर्भ में धर्म को एक नवीन रूप प्रदान किया।

अध्यक्ष पद से श्री जैनेन्द्रकुमार जी ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द जी का कार्य जीवन में व्याप्त द्वैत को समाप्त करना था। उन्होंने आगे कहा कि स्वामीजी के समय में एक ओर अदम्य पुरुषार्थवादी पश्चिम खड़ा हुआ था तो दूसरी ओर दासता की जंजीरों में लिपटा हुआ भारत था। श्रीरामकृष्ण परमहंस के द्वारा उन्हें वह मंत्र प्राप्त हुआ था जिससे उन्होंने जीवन के द्वैत का निराकरण किया था। जैनेन्द्र कुमारजी ने कहा कि स्वामी विवेकानन्दजी अखण्ड जीवन तथा अक्षय स्फूर्ति के प्रतीक थे। उनका स्मरण करके हम सभी क्षेत्रों में अग्रगामी हो सकते हैं।

लगभग बारह हजार दर्शकोंने इस कार्यक्रमका लाभ उठाया।

❀ ❀ ❀

सोमवार, ३१ दिसम्बर को विवेकानन्द शताब्दी समारोहके समापन उत्सव का तीसरा दिवस था। इस दिन 'गीता मुझे क्या सिखाती है' परिसंवाद के अन्तर्गत चार विद्वानों के भाषणों का आयोजन किया गया था। इस कार्यक्रम की

अध्यक्षता डा० बलदेव प्रसादजी मिश्र कर रहे थे।

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र के उद्घाटन भाषण के उपरान्त संस्कृत महाविद्यालय के आचार्य श्री कानिटकर जी शास्त्री ने कहा कि गीता में उपनिषदों का सारतत्त्व समाहित है। गीता हमें सिखाती है कि किसप्रकार हम गर्व, दर्प एवं अभिमान से बचते हुए सही रास्ते पर चल सकते हैं। उन्होंने कहा कि आधुनिक कर्मच्युत समाज को गीता के द्वारा कार्य करते रहने की प्रेरणा मिल सकती है।

गीता की सीख के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करते हुए स्थानीय दुर्गा महाविद्यालय के उप-प्राचार्य श्री रणवीरसिंह जी शास्त्री ने कहा कि गीता जीवन के सौन्दर्य को निखारने वाली कला सिखाती है। वह केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है अपितु पूर्णतः व्यावहारिक है। वह सिद्धान्त को व्यवहार में बदलकर जीवन को सौन्दर्यमान बनाती है। कर्मयोग की प्रमुखता बताते हुए शास्त्रीजी ने कहा विद्वत्ता तभी सार्थक हो सकती है जब वह कर्मयुक्त हो।

विवेकानन्द आश्रम के अध्यक्ष स्वामी आत्मानन्दजी ने कहा कि गीता की सीख को एक वाक्य में कहा जा सकता है। गीता मुझे कर्म करना सिखाती है। गीता मुझे कार्य करने का वह दृष्टिकोण प्रदान करती है जिससे कर्म का विष मनुष्य को नहीं व्यापता। स्वामी आत्मानन्द ने अत्यन्त भावोच्छ्वसित शब्दों में बताया कि गीता को मैं माँ कहता हूँ। उसे मैं कल्याणकारी माता के रूप में देखता हूँ जो सदैव मेरी रक्षा करती है। जब मैं उलझनों में फँस जाता हूँ तब वह मुझे सही रास्ता बताती है। जब मैं विषम

परिस्थितियों में पड़कर निष्क्रिय हो जाता हूँ तब गीता माता मेरी निष्क्रियता को नष्ट कर मुझे आत्मचिंतन करने के लिए प्रेरित करती है। उन्होंने कहा कि गीता का मर्म इहलोक-परायण, भौतिकवादी और जीवन के उच्चतर आदर्शों के प्रति आस्थाहीन व्यक्तियों की समझ में नहीं आ सकता। गीता उनके लिए है जो कुछ उच्च भूमिका पर स्थित हैं तथा जो जीवन के प्रवाह को समझना चाहते हैं।

अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए डा० बलदेव प्रसाद जी मिश्र ने कहा कि गीता धर्मतत्त्व का निचोड़ एवं शाश्वत व्यवहार शास्त्र है जिससे अनेक व्यक्तियों को प्रेरणा मिली है तथा मिलती रहेगी। डा० मिश्र ने कहा कि गीता ज्ञान का भाण्डार है तथा उसके श्लोकों में लाक्षणिकता भरी पड़ी है। यही कारण है कि गीता का आधार लेकर विविध व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न मतों की प्रतिष्ठा की है।

मंगलवार १ जनवरी, १९६४ का दिन विवेकानन्द शताब्दी उत्सव का अंतिम दिवस था। आज आचार्य विनोबा भावे विवेकानन्द आश्रम के अतिथि थे। भूदान के प्रवर्तक संतप्रवर आचार्य विनोबा भावे ने प्रातःकाल आठ बजे ईशावास्योपनिषद् पर प्रवचन किया। उन्होंने कहा कि ईशावास्योपनिषद् एक आध्यात्मिक कृति है और उसमें समग्रगत जीवन-दर्शन भरा हुआ है। इस छोटे से ग्रन्थ में परस्पर विरोधी शक्तियों को समाहित करने की अद्भुत शक्ति है। आचार्य विनोबा भावे ने बताया कि इस उपनिषद् का प्रभाव उनके जीवन पर बहुत पड़ा है तथा अन्य विचारकों ने भी इसे गीता एवं पतञ्जलि के योगसूत्रों के

समकक्ष रखा है। यही कारण है कि ईशावास्योपनिषद् के भाष्यों की संख्या सर्वाधिक है।

अपराह्न सवा चार बजे से सर्व धर्म-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। विश्व के सात प्रमुख धर्मों के प्रतिनिधि इस सम्मेलन में भाग लेने के लिये उपस्थित थे। आचार्य विनोबा भावे प्रमुख अतिथि थे। छात्राओं के सहगान के पश्चात् सर्व-धर्म-सम्मेलन का समारम्भ हुआ। संतप्रवर विनोबा भावे ने सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा कि प्रत्येक धर्म की अपनी-अपनी अलग परिभाषा है और वे उन परिभाषाओं के जाल में उलझे हुए हैं। वास्तव में सभी धर्म मानवतावादी हैं। हमें उन धर्मों के सार तत्त्व को ग्रहण करते हुए असार तत्त्वों को छोड़ देना चाहिए। सभी धर्मों में बहुत सी गंदी बातें भरी हुई हैं। हमें उन बातों को निकाल देना है। उन्होंने कहा कि ग्रन्थ हमारे लिए हैं, हम ग्रंथों के लिए नहीं हैं। हमें अपने ग्रन्थों को सुधारना होगा। धार्मिक विवादों में पड़कर हम ईश्वर के असली स्वरूप को भुलाकर ऐसे कम्बख्त ईश्वर की उपासना करने लगते हैं जिसकी पूजा के लिए सब लोग एक ही स्थान में उपस्थित नहीं हो सकते। स्वामी विवेकानन्द जी का स्मरण करते हुए आचार्य भावे ने कहा कि आज से सत्तर वर्ष पूर्व शिकागो के सर्व-धर्म-सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्दजी ने हिन्दू धर्म के सार तत्त्व वेदान्त को सबसे पहली बार विश्व के सामने रखा था। उस एक व्याख्यान से संसार यह जान गया कि भारत अभी भी जीवित है और उसके पास स्वयं का मौलिक चिन्तन है। तब आत्मविस्मृति में लीन भारतवासियों ने भी यह अनुभव

किया कि हम भी कुछ हैं। प्राचीन होते हुए भी स्वामीजी का उक्त भाषण सूर्यके समान प्रखर और नित्य नूतन बना रहेगा।

सिख-धर्म का प्रतिनिधित्व करते हुए अमृतसर से पधारे ज्ञानी प्रतापसिंह जी ने कहा कि सिख-धर्म के प्रवर्तक गुरुनानक के उपदेश और सिख-धर्म सम्पूर्ण मानवता के निमित्त हैं। गुरु ग्रन्थ साहब में सभी जातियों एवं सम्प्रदायों के व्यक्तियों के विचार संकलित हैं। गुरु गोविन्दसिंह का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि नाम और रुपसे युक्त जगत् ईश्वर की ही कृति है और अन्त में यह जगत् ईश्वर में ही विलीन हो जाता है। भक्ति के साथ शक्ति भी आवश्यक है। उन्होंने कहा कि सिख-धर्मका उद्देश्य मानव मात्रकी रक्षा है।

प्राध्यापक श्रीशामसुद्दीन ने इस्लाम धर्म के मानवतावादी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा कि अपने को अल्लाह की मरजी पर छोड़ देना ही इस्लाम का अर्थ है। पैगम्बर मुहम्मद साहब ने बताया है कि ईश्वर एक है। संसार के सभी व्यक्ति भाई-भाई हैं। संसार की सम्पदा में सभी का समान अधिकार है। विद्वान् वक्ता ने कहा कि अन्य धर्मों के समान इस धर्म में भी विकृतियाँ हैं जिन्हें स्वार्थ-सिद्धि के लिए मौलवियों और मुल्लों ने धर्म में भर दिया है।

पारसी-धर्म का विवेचन करते हुए प्राध्यापिका कुमारी बेप्सी मिर्जा ने कहा कि आचार, विचार, उपासना और अनुष्ठान पारसी धर्म के मूलाधार हैं इस धर्म का प्रवर्तन जरथुस्त्र ने किया था। उनके वचनों को ही धर्म-ग्रन्थ के रूप में संकलित किया गया है। प्राध्यापिका मिर्जा ने कहा कि

हिन्दू-धर्म और पारसी-धर्म दोनों आर्यों के धर्म हैं और इनमें महत्त्वपूर्ण समानता है। उन्होंने निर्मल मन की भक्ति, दीन व्यक्तियों की सेवा एवं निष्काम कर्म को पारसी-धर्म का प्रमुख तत्त्व बताया।

प्राध्यापक हरवंशलाल जी चौरसिया ने बौद्ध धर्म का विवेचन करते हुए कहा कि अतिवादी प्रवृत्तियों से बचने के लिए भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था। भगवान् तथागत द्वारा निर्दिष्ट चार आर्यसत्यों का विवेचन करते हुए विद्वान् वक्ता ने अष्टांग मार्ग के पालन के महत्त्व को बताया। उन्होंने कहा कि उदार एवं व्यापक वृत्ति वाले इस जनवादी धर्म का उदय हिन्दू धर्म से ही हुआ है।

ईसाई धर्म से परिचित कराते हुए रेवरेण्ड गुरुवचनसिंह ने बताया कि प्रभु ईसा प्रेम के प्रतीक थे तथा दुखी एवं रोगी व्यक्तियोंकी सेवा करनेके लिए अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने कहा कि ईसाई धर्म ईश्वर की उपासना मानव के रूप में करत है तथा त्याग, सेवा और प्रेम ईसाई-धर्म के मूल सिद्धान्त हैं और ये प्रभु ईसा के जीवन में पूरी तरह से उतर गए थे।

यति श्री यतनलाल जी ने जैन धर्म के मूलाधारों पर प्रकाश डालते हुए अहिंसा को जैन-धर्म का प्रधान तत्त्व बताया। भगवान् महावीर के वचनों का पाठ करते हुए यति जी ने कहा कि जैन-धर्म समानतावादी है तथा सभी धर्म के प्रवर्तकों के प्रति श्रद्धा रखता है। वह क्रोध, वैर, ईर्ष्या और हिंसा को मानव जीवन में दुख फैलाने वाले बन्धन मानता है तथा इनको दूर करने के उपायों का विधान करता है।

अंत में स्वामी आत्मानन्द ने विविध धर्मों की बातों का समाहार करते हुए बताया कि सभी धर्म एक ही बात कहते हैं। हिन्दू-धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों को रखते हुए स्वामीजी ने कहा कि अन्य धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म की एक विशेषता है। वह यह कि इस धर्म का कोई प्रवर्तक नहीं हुआ। इसीलिए इसमें व्यापक मानवतावादी दृष्टि निबद्ध है। प्रोफेसर मैक्समूलर को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा कि यदि कालान्तर में इतिहास यह सिद्ध कर दे कि विविध धर्मों के प्रवर्तकों का अस्तित्व नहीं था, अर्थात् यदि यह प्रमाणित कर दे कि इस्लाम के प्रवर्तक मोहम्मद पैगम्बर, बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध एवं ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह कभी हुए ही नहीं, तो उन धर्मों का अस्तित्व खतरे में पड़ जायगा। किन्तु हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में यह बात सच नहीं है, क्योंकि वह किसी एक व्यक्ति के आधार पर खड़ा नहीं है। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण की पूजा इसलिए नहीं होती कि वे हिन्दू धर्म के प्रवर्तक थे, बल्कि वे इसलिए पूजे जाते हैं क्योंकि हिन्दू धर्म उनके जीवन में साकार हुआ था। आत्मानन्दजी ने बताया कि हिन्दू धर्म शाश्वत मानव अनुभूति पर आधारित है और इसलिए जब तक मनुष्य, मनुष्य बना रहेगा, तब तक वह जीवित रहेगा।

अपने भाषण के अन्त में स्वामी आत्मानन्द ने लगभग पन्द्रह हजार श्रोताओं को धन्यवाद देते हुए उत्सव का समापन किया।

श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।